

परमात्मा होने का विज्ञान

प्रथमवृत्ति : 3400

द्वितीय : 4500, नवम्बर 1990

प्रकाशक : दरियागंज शास्त्र सभा

मिलने का पता : दि. जैन महिलाश्रम, घंटा मस्जिद,
दरियागंज, दिल्ली
चन्द्र सैन जैन
2329, गली नं. 12, कैलाश नगर,
दिल्ली-110031

दो शब्द

बहुत वर्षों से यह कमी अनुभव में आ रही थी कि कोई एक छोटा-सा ट्रफ्ट हो जो आज की भाषा में हो, सरल हो जिससे सभी लोक सम्प्रदायों से ऊपर उठकर धर्म के मर्म को सरलता से बिना पक्षपात के जान सके। इसकी पूर्ति के लिये यह ट्रफ्ट लिखा गया था। सबसे पहले आत्मज्ञान होना जरूरी है, आत्मज्ञान बिना रागद्वेष का अभाव नहीं हो सकता और रागद्वेष के अभाव के बिना यह आत्मा विकारों से रहित शुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये इस ट्रफ्ट में आत्मज्ञान का उपाय और उससे रागद्वेष का क्रम से अभाव द्वारा मानव बनना और मानव से महामानव, परमात्मा बनने का उपाय सरल ढंग से बताया है। सम्प्रदाय और धर्म में अन्तर है। जिसका कोई नाम दे दिया जाता है वह सम्प्रदाय हो जाता है। जिसका सम्बन्ध मात्र किसी समाज के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरे करने तक ही सीमित है। मिथ्या अंधविश्वास, रूढ़ि परम्परा का शिकार होकर किसी लकीर का फकीर बनाना सम्प्रदाय का काम है। धर्म का पालन तो अपने जीवन को स्वस्थ मंगलमय बनाने के लिये है जो आत्म कल्याण और पर कल्याण का कारण है। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है जबकि सम्प्रदाय का सम्बन्ध बाहर से है। धर्म का स्वरूप हमेशा एक रहता है वह किसी देश, काल अथवा व्यक्ति विशेष की वजह से बुलाना नहीं है। धर्म अपने आपमें असिम है, प्राणि मात्र का है सबके लिये कल्याणकारी है। उसी धर्म का वर्णन इस ट्रफ्ट में किया गया है। मैं आशा करता हूं कि पाठक इसको इसी दृष्टि से पढ़ेंगे।

श्री चन्द्रसेन जी ने ३४०० प्रति छपवाई थीं वह हाथो-हाथ निकल गई और लोगों की मांग बनी रही। अतः दुबारा दरियागंज शास्त्र सभा द्वारा छपवाई गयी हैं।

इस संस्करण में पहले जो कहीं विषय के खुलाशा होने में कमी मालूम दी थी उसको ज्यादा खोलने की चेष्टा की गयी है। श्री अनिल कुमार साहारनपुर वालों ने प्रूफ संशोधन का कार्य और बहुत लगन से इसका सम्पादन किया है। इसके लिये उनका बहुत आभार है।

परमात्मा होना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है

प्रत्येक जीव बीजभूत परमात्मा है

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरे अचेतन। चेतन पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की शक्ति है अथवा जो अनुभव कर सकते हैं, सुख-दुख का वेदन कर सकते हैं। इनके विपरीत, अचेतन या जड़ पदार्थ वे हैं जिनमें जानने की, अनुभव करने की शक्ति नहीं है, जो सुख-दुख का वेदन नहीं कर सकते। चेतन जाति के अन्तर्गत समस्त जीव आ जाते हैं, शेष सब पदार्थ अचेतन जाति के अन्तर्गत आते हैं। जितने भी जीव हैं, वे सब अलग-अलग हैं—प्रत्येक जीव की एक स्वतंत्र सत्ता है। उन सबके सुख-दुख, जीवन-मरण, अनुभव और वेदना अलग-अलग हैं; जाति की अपेक्षा एक होते हुए भी व्यक्तित्व की अपेक्षा सब अलग-अलग हैं। पेड़-पौधों से लेकर चींटी-मकोड़े, मच्छर-मक्खी, पशु-पक्षी, कछुआ-मछली, और मनुष्य—नभ-जल-थल के सभी जीव—चेतना-शक्ति को लिये हुए हैं, इन सभी में जानने की शक्ति है। यहाँ तक कि सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टीरिया, वाइरस, इत्यादि), जो सब जगह पाये जाते हैं, उनमें भी यह चेतना-शक्ति मौजूद है।

जाति की अपेक्षा यद्यपि सभी जीव चेतन जाति के हैं, मूलभूत गुणों की अपेक्षा यद्यपि सबमें समानता है, तथापि उस चेतना-शक्ति की अथवा उन गुणों की अभिव्यक्ति सबमें समान नहीं है—बस यही इनमें पारस्परिक अन्तर है। मनुष्य में उस शक्ति की अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत ज्यादा है; पशु-पक्षियों में उससे कम है; मक्खी, चींटी, आदि में और भी कम है; पेड़-पौधों में उससे भी कम है; और, जीवाणुओं में तो बहुत ही कम है—इतनी कम कि वे अपनी चेतना-शक्ति को महसूस भी नहीं कर सकते। एक ओर, जीव की शक्तियाँ कम होते-होते जहाँ इस चरम सीमा तक कम हो सकती हैं, वहीं दूसरी ओर, बढ़ते-बढ़ते वे मानव में—जब वह मानवता के चरम उत्कर्ष को, महामानव अर्थात् परमात्म-अवस्था को प्राप्त करता है—परिपूर्णता के शिखर पर पहुँच सकती हैं। इस प्रकार प्रत्येक जीवात्मा में

परमात्मा होने की उत्कृष्ट संभावना विद्यमान है, और जीवाणु आदि की तरह लगभग जड़वत् रह जाने की निकृष्ट संभावना भी।

जीव की परमात्म-अवस्था की ओर उन्नति अथवा जीवाणु अवस्था की ओर अवनति, दोनों ही इसके स्वयं के पुरुषार्थ पर निर्भर करती हैं; यह उन्नति का मार्ग चुने या अवनति का, यह निर्णय इसकी अपनी स्वतंत्रता है। इतना अवश्य जान लेना जरूरी है कि मनुष्य अवस्था वह खास पड़ाव है जहाँ से इस जीव को आत्मोन्नति की यात्रा पर निकल पड़ने की सुविधा है, हालाँकि सामान्यतः सभी संज्ञी (मन-सहित) पंचेन्द्रिय जीव इस यात्रा की शुरुआत कर सकते हैं।

यद्यपि संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था से ही आत्मोन्नति का पुरुषार्थ संभव है, तथापि अपनी सभी अवस्थाओं में यह जीव बीजभूत परमात्मा है। वट के बीज में मौजूद वट-वृक्ष बनने की शक्ति की तरह परमात्मा बनने की शक्ति इसमें सदा से अन्तर्निहित है जिसको इसे अपने पुरुषार्थ द्वारा व्यक्त करना है।

वर्तमान में जीव दुखी है

यद्यपि जीव में परमात्मा होने की उत्कृष्ट संभावना निहित है, तथापि वर्तमान में तो हम पाते हैं कि जीव दुखी है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख-प्राप्ति के लिये ही होता भी है, परन्तु सुख के सही/सम्यक् स्वरूप से अनभिज्ञ/अनजान होने के कारण उसके प्रयत्न भी सम्यक् नहीं होते, फलतः उसे दुख के सिवाय कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

इस जीव का दुख कैसे दूर हो, इसके लिये जिस विज्ञान का आविष्कार हुआ, उसी का नाम धर्म है। जीव दुखी है, यह बात तो प्रत्यक्ष-सिद्ध है—हम सभी का अनुभव इस बात का अहसास दिला रहा है कि हम दुखी हैं। हम दुखी क्यों हैं, और उस दुख को दूर करने का क्या उपाय है, इन बातों पर विचार करना है।

दुख का कारण : राग-द्वेष

प्रत्येक जीव में क्रोध-मान-माया-लोभ अथवा राग-द्वेष पाये जाते हैं। यह बात

प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जिस व्यक्ति में क्रोध-मान-माया-लोभ की अधिकता होती है, वह स्वयं भी दुखी रहता है और दूसरे लोगों को भी वह अच्छा नहीं लगता—क्रोधी बाप से तो उसका बेटा भी बचना चाहता है। जिस आदमी में क्रोध ज्यादा है वह किसी की हत्या तक भी कर सकता है; जिसमें मान ज्यादा है वह अपने सामने किसी दूसरे को कुछ नहीं समझता; माया की अधिकता में बेटा अपने माँ-बाप को ही ठग लेता है; लोभ के आधिक्य में मनुष्य क्या-क्या अनाचार नहीं करता ? इस सबसे मालूम होता है कि जिनके पास ये क्रोधादिक कषायें अथवा राग-द्वेष ज्यादा मात्रा में हैं वे दुखी ही हैं और तीव्र कषाय/रागद्वेष की मौजूदगी में उनके जो भी कार्य होते हैं, वे सब न सिर्फ पाप-रूप होते हैं बल्कि दूसरों के लिये भी दुखदायी होते हैं। पुनश्च, ऐसा नहीं है कि केवल तीव्र राग ही दुख-रूप हो; परमार्थतः तो मंद राग भी दुख-रूप ही है परन्तु तीव्र राग की तुलना में लोक में उसे दुख न कह कर सुख कहा जाता है।

सुख की दिशा : राग-द्वेष का अभाव

जिस किसी व्यक्ति के राग-द्वेष की कुछ कमी हो जाती है उसे हम भला आदमी कहते हैं; वह गलत कामों में नहीं जाता और दूसरों के लिए उपयोगी/कार्यसाधक ही सिद्ध होता है, बाधक नहीं। यदि किसी व्यक्ति के इनकी कमी कुछ ज्यादा मात्रा में हुई तो लोग उसे सज्जन कहते हैं। ऐसा व्यक्ति न्यायपूर्वक आचरण करता है, सत्य बोलता है, दूसरों की रक्षा, सहायता, सेवा आदि करता है, और शान्तपरिणामी होता है; उसके जीवन से सुगन्ध आती है। और, जिस व्यक्ति में राग-द्वेष की कमी और भी ज्यादा होती है वह साधु कहलाता है। मात्र साधु के वेश से कोई साधु नहीं हो जाता—वेश तो बाहर की बात है। अंतरंग में राग-द्वेष के बहुभाग के अभाव में उसकी आत्मा साधु हो जाती है। ऐसी आत्मा की शान्ति का क्या कहना ! उसका जीवन फूल की तरह होता है—न केवल स्वयं में सुगंधित होता है, अपितु दूसरों को भी सुगंधित कर देता है। और, जिस आत्मा में राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो जाता है उसकी शान्ति, उसका आनन्द, समस्त सीमाएँ तोड़कर अपरिसीम-अनन्त हो जाता है; वह आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, परमात्मा हो जाता है।

राग-द्वेष का पूरी तरह अभाव हो जाना कोई असम्भव बात नहीं है, क्योंकि जब ये राग-द्वेष किसी के ज्यादा हैं, किसी के कम हैं, किसी के और भी कम हैं तो कोई ऐसा भी हो सकता है जिसके ये बिल्कुल न हों। दूसरे शब्दों में, जब ये अधिक से न्यून, न्यूनतर हो सकते हैं तो इनकी न्यूनतमता या इनका सर्वथा अभाव भी अवश्य हो सकता है।

राग-द्वेष की मात्रा और दुख, इन दोनों में सीधा सम्बन्ध है। जिनके राग-द्वेष ज्यादा हैं वे अपने आप में सदा दुखी हैं; बाहरी सामग्री अनुकूल होने पर भी वे महादुखी ही हैं। बाहरी अनुकूलताएँ तो देवों, राजा-महाराजाओं, चक्रवर्ती सम्राटों आदि के पास बहुत हैं, परन्तु आत्मिक सुख नहीं है। शारीरिक अनुकूलताओं का कारण तो पुण्य कर्म का उदय है, जबकि आत्मिक सुख का कारण रागद्वेष का अभाव है। अतः जिनके राग-द्वेष की कमी होने लगती है वे बाहरी अनुकूलताओं के बिना भी सुखी रहते हैं। सच्चे साधु के पास कुछ भी बाह्य सामग्री न रहते हुए भी वह महासुखी है। क्यों ? इसलिए कि उसमें राग-द्वेष की कमी हुई और उनका स्थान लिया सत्य, क्षमा, विनय, सरलता, निर्लोभ, संतोष, ब्रह्मचर्य आदि स्वाभाविक गुणों ने। फलतः साधु बाहरी अनुकूलताओं के बिना भी सुखी हो जाता है। इससे पता चलता है कि जीव अपने राग-द्वेष की वजह से दुखी है, न कि बाहरी स्थितियों की वजह से। हमने आज तक सुख की प्राप्ति के लिए बाहरी अनुकूलताओं को प्राप्त करने के उपाय तो निरन्तर किये; और उन अनुकूलताओं की प्राप्ति के लिये पुण्य-उपार्जन के उपाय भी किये, परन्तु राग-द्वेष के त्याग का, नाश का उपाय कभी नहीं किया। इसलिए पुण्योदय के फलस्वरूप कदाचित् बाहरी अनुकूलताएँ भी हमें मिलीं, तो भी हम सुखी नहीं हो सके, क्योंकि सुख-प्राप्ति का सच्चा उपाय तो हमने कभी जाना नहीं। और, जब उपाय ही नहीं जाना तो सही प्रयत्न करने का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। यदि सच्चा उपाय जानकर तदनुरूप प्रयत्न करते—राग-द्वेष के अभाव का पुरुषार्थ करते—तो जितने-जितने अंशों में इनका अभाव कर पाते, उतने-उतने अंशों में यह आत्मा सुखी होने लगता।

इस विचारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि राग-द्वेष ही दुख है,

इनका अभाव ही सुख है, और इनका सर्वथा अभाव परम सुख है। अथवा, कहना चाहिए कि

जीवात्मा—रागद्वेष=परमात्मा
या, जीवात्मा—विषयकषाय=परमात्मा।

धर्म, अधर्म, पुण्य और पाप

राग-द्वेष के अभाव का उपाय धर्म-मार्ग है, राग-द्वेष का अभाव जितने अंशों में हो उतना धर्म है और इनका पूर्णतया अभाव हो जाना ही धर्म की पूर्णता है। राग-द्वेष का होना अधर्म है, और उसके दो भेद हैं—एक पाप और दूसरा पुण्य। द्वेष तो तीव्र हो या मंद, सब तरह से अशुभ या पाप ही है; राग की तीव्रता पाप है और मंदता शुभ अथवा पुण्य है। दूसरे शब्दों में कहें तो राग-द्वेष का अभिप्राय रखकर कुछ भी करना, तीव्र राग-द्वेष का सद्भाव होने की वजह से पाप-कार्य है; जबकि राग-द्वेष के अभाव के अभिप्राय से की गई प्रवृत्ति, मंद राग का सद्भाव होने से पुण्य-कार्य है।

राग-द्वेष की तीव्रता में जो भी काम होते हैं वे सब पाप-रूप होते हैं, जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, आसक्ति, अन्याय, अभक्ष्य-सेवन आदि। राग-द्वेष की मंदता में जो कार्य होते हैं, वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनासक्ति, न्यायपूर्वक प्रवृत्ति आदि; चूंकि ये शुभ-रूप हैं इसलिये पुण्य-बंध के कारण हैं। और, राग-द्वेष के अभाव में तो प्रवृत्ति का अभाव है अतः जीव के दोनों ही प्रकार के कार्य न होकर वह मात्र वीतराग ही रहता है।

धर्म की परिभाषायें विभिन्न, किन्तु केन्द्रबिन्दु एक : रागद्वेष का अभाव

धर्म की चार मूल परिभाषायें हैं—(१) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता धर्म है; (२) वस्तु-स्वभाव धर्म है—यहाँ आत्म-वस्तु का प्रसंग है, अतः आत्म-स्वभाव धर्म है; (३) उत्तमक्षमादिक दशलक्षण धर्म है; तथा (४) अहिंसा परम धर्म है। विचार करने पर हम पाते हैं कि ये चारों ही परिभाषायें राग-द्वेष के अभाव को अर्थात् वीतरागता का लक्ष्य करती हैं।

राग-द्वेष आत्मा की अशुद्धता है; उस अशुद्धता को अपना विकार जान कर उसके अभाव का निर्णय करना, यह सम्यग्दर्शन है। उस अशुद्धता के अभाव का उपाय है राग-द्वेष से भिन्न अपने चैतन्य-स्वभाव को अपने-रूप अनुभव करना, यह सम्यग्ज्ञान; और अपने चैतन्य-स्वभाव में स्थिरता, यह सम्यक्चारित्र्य है। जितनी स्वभाव में स्थिरता, उतना राग-द्वेष का अभाव, उतना धर्म है। पूर्ण रूप से स्थिर होने पर समस्त राग-द्वेष का अभाव, यह सम्यक्चारित्र्य की पूर्णता है, धर्म की पूर्णता है। यही वीतरागता है तथा आत्म-स्वभाव भी यही है।

क्रोध कषाय का अभाव क्षमा है, मान कषाय का अभाव मार्दव है, माया कषाय का अभाव आर्जव है, और लोभ कषाय का अभाव शौच है, इत्यादि। इस प्रकार धर्म के दश लक्षणों के द्वारा भी कषायों अथवा राग-द्वेष के अभाव को ही बताया गया है।

राग-द्वेष का होना वह आत्म-स्वभाव का घात होने से हिंसा है, चूँकि राग-द्वेष आत्मा के वीतराग स्वभाव के घातक हैं। उन राग-द्वेष के अभाव में आत्म-स्वभाव का घात नहीं होता इसलिये अहिंसा है। जीव-घात तो मात्र बाहरी हिंसा है जो अंतरंग में राग-द्वेष के सद्भाव में होती है—राग-द्वेष की तीव्रता में अयत्नाचार-रूप, असावधानी-रूप, प्रमाद-रूप प्रवृत्ति होती है; उस प्रमाद के फलस्वरूप बाह्य में कोई जीव मरे या न मरे, जहाँ प्रमाद-रूप प्रवृत्ति है वहाँ हिंसा अवश्य है। असली बीमारी तो राग-द्वेष है, बाहरी आचरण तो उसका प्रतिफल है; बीमारी मिटाने से उसका प्रतिफल तो अपने आप मिट जाता है। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि राग-द्वेष का होना ही हिंसा है, और राग-द्वेष का न होना अहिंसा है, वही धर्म है।

राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण : शरीर का अपने-रूप अनुभव यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल कारण क्या है, वे क्यों पैदा होते हैं ? विचार करने पर हम पाते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति का मूल आधार है जीव की यह अनादिकालीन मिथ्या मान्यता कि 'मैं शरीर हूँ।' यह जीव निजमें चैतन्य होते हुए, आप ही जानने वाला होते हुए भी, स्वयं को चैतन्य-रूप न जान कर शरीर-रूप जान रहा है। शरीर और स्वयं में एकपना देखता है तो शरीर से सम्बन्धित सभी चीजों में इसके

अपनापना आ जाता है। शरीर के अनुकूल सामग्री में राग होता है और प्रतिकूल सामग्री से द्वेष। शरीर में अपनत्व के अलावा, इसके जो शुभ-अशुभ विकारी भाव हो रहे हैं उनको भी यह अपने-रूप ही देखता है।

शरीर और शरीर-संबंधी पदार्थों को अपने-रूप देखने से इसके उन सबमें अहम्पना या अहंकार पैदा होता है। अहंकार को ठेस लगने पर क्रोध होता है। अहंकार की पुष्टि के लिये 'पर' का—दूसरे जड़ व चेतन पदार्थों का—संग्रह करना चाहता है तो लोभ पैदा होता है, और अनुकूल उपाय न बनने पर मायाचार-रूप प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार कण्य अथवा राग-द्वेष का मूल कारण शरीर को अपना मानना है, कर्मजनित अवस्था में अपनापना मानना है। अब और आगे चलते हैं—चूँकि यह शुभ-अशुभ भावों को अर्थात् राग-द्वेष को अपने-रूप देखता है, इसलिये उन्हें अपने स्वभाव ही गिनता है। इस कारण से उनके अभाव के बारे में तो सोच भी नहीं सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रागद्वेष-रूपी वृक्ष का मूल अथवा जड़ तो है इस जीव की यह मान्यता कि 'मैं शरीर हूँ' और इस वृक्ष का सिंचन कर रही है यह धारणा कि 'राग-द्वेष मेरे स्वभाव हैं।' शरीर और राग-द्वेष के साथ एकात्मता की ये मिथ्या मान्यताएँ तभी मिट सकती हैं, जब यह जीव अपने को पहचाने और जाने कि मैं शरीर नहीं, शुभ-अशुभ भाव या राग-द्वेष भी मैं नहीं—ये मेरे स्वभाव नहीं, मैं तो इन सबसे भिन्न ज्ञान का मालिक, एक अकेला चैतन्य-तत्त्व हूँ।

सुख का मूल कारण : अपना अपने-रूप अनुभव

जब हम अपने को शरीर-रूप अनुभव करते हैं तो समस्त प्रकार की आकुलताएँ हमें घेर लेती हैं, नाना प्रकार के विकल्प आ खड़े होते हैं—इतनी बात तो हम सभी के द्वारा अनुभूत है क्योंकि स्वयं को शरीर-रूप तो हम सदा से देखते चले आ रहे हैं। इसके विपरीत, जब हम अपने को अपने-रूप, चैतन्य-रूप अनुभव करते हैं तो कोई आकुलता नहीं रहती, क्योंकि जो ज्ञान-स्वभावी चैतन्य है उसका न तो कोई जन्म है और न ही कोई मरण; उसके अनन्त गुणों में से न तो कोई कम होने वाला है और न ही कहीं बाहर से आकर कुछ उसमें मिलने वाला है। अतः न तो कुछ बिगड़ने का अथवा चले जाने का भय हो सकता है, और न ही कुछ आने का या मिलने का लोभ। चूँकि सभी आत्माएँ इसी प्रकार ज्ञान-स्वभावी हैं

इसलिए उनमें न तो पारस्परिक तुलना का ही कोई प्रश्न उठ सकता है और न ही किसी प्रकार की ईर्ष्या या अभिमान के पैदा होने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने पर किसी प्रकार की कषाय पैदा होने का, राग-द्वेष होने का, कोई कारण ही नहीं रह जाता। दुख के मौलिक कारण राग-द्वेष शरीर में अर्थात् 'पर' में अपनापना मानने से पैदा होते हैं और निज आत्मा को निजरूप अनुभव करने से मिटते हैं। यह नियम गणित के "दो जमा दो बराबर चार" के नियम की तरह सुस्पष्ट है, इसमें संशय अथवा रहस्य की कोई गुंजाइश ही नहीं है।

अब तक की चर्चा का सारांश निकलता है कि दो बातें जाननी जरूरी हैं—एक तो यह कि दुख राग-द्वेष की वजह से है, पर-पदार्थों की वजह से नहीं। और दूसरी यह कि अपने चैतन्य को पहचाने बिना शरीर में अपनापना नहीं मिट सकता, शरीर में अपनापना मिटे बिना राग-द्वेष नहीं मिट सकता, और राग-द्वेष मिटे बिना यह जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। इस जीव को एक ही रोग है, "राग और द्वेष"; और सभी जीवों के लिए—चाहे वे किसी को भी मानने वाले क्यों न हों—दवा भी एक ही है, शरीर और कर्मफल से भिन्न अपने को चैतन्य-रूप अनुभव करना जिससे राग-द्वेष का अभाव हो। लोक में भी देखा जाता है कि जिन लोगों को अथवा जिन चीजों को हम अपनी नहीं देखते-जानते हैं, उनके लाभ-हानि, जीवन-मरण को जानने पर भी हमें कोई सुख-दुख नहीं होता। वहाँ चूँकि हमें अपनी चीज़ की पहचान है अतः वे पर-रूप दिखाई देती हैं, अपनी नहीं। इसी प्रकार, यदि शरीरादि से भिन्न निज-आत्मा का ज्ञान हमें उसी ढंग का हो जाता तो शरीरादि भी पर-रूप दिखाई देने लगते, तब उनमें भी सुख-दुख, राग-द्वेष नहीं होता। जब शरीरादि ही पर-रूप दिखाई देते, तब शरीर से सम्बन्धित अन्य पदार्थ—स्त्री-पुत्रादि अथवा धन-सम्पत्ति आदि—तो अपने आप ही पर हो जाते, अतः उनके संयोग-वियोग में हर्ष-विषाद होने का तो प्रश्न ही न उठता !

राग-द्वेष का अभाव ही वास्तविक सुख है। राग-द्वेष का अभाव कैसे हो ? उनके अभाव के हेतु निज चैतन्य को किस प्रकार पहचाना जाये ? अब इस बारे में विस्तार से विचार करना है।

वस्तु-तत्त्व का निर्णय

आत्म-विज्ञान

यदि नकारात्मक ढंग से कहें तो राग-द्वेष का अभाव, और सकारात्मक ढंग से कहें तो परम सुख अर्थात् आत्मिक सुख की उपलब्धि, यही साक्षात् धर्म है। साधन की दृष्टि से राग-द्वेष के अभाव के उपाय को, विज्ञान को भी धर्म कहा जाता है। **भगवान् महावीर** ने निजमें राग-द्वेष का समूल नाश करके परम सुख को प्राप्त किया और इस आत्म-विज्ञान को संसार के समस्त जीवों के हितार्थ बतलाया। संसारी जीव अशुद्ध है और राग-द्वेष ही उसकी अशुद्धता है। वह कब से अशुद्ध है ? यदि पहले शुद्ध था तो अशुद्ध क्यों और कैसे हुआ ? इन प्रश्नों का समाधान है कि जैसे खान से निकाला गया सोना कीट-कालिमा से मिला हुआ ही निकलता है, पहले कभी शुद्ध रहा हो और फिर अशुद्ध हो गया हो, ऐसा नहीं है, बल्कि ऐसा है कि वह सदा से अशुद्ध था, शुद्ध होने की योग्यता भी उसमें सदा से छिपी थी, और अब धातु-विज्ञान की एक विशिष्ट विधि द्वारा शुद्ध किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार की स्थिति संसारी जीव की भी है। वह भी अनादिकाल से अशुद्ध है, और शुद्ध होने की योग्यता भी उसमें सदा से अन्तर्हित है। इसके शुद्धिकरण के लिए भी एक विशिष्ट उपाय है, उसे ही ऊपर आत्म-विज्ञान कहा गया है। परन्तु, दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में जहाँ इतनी समानता है, वहीं इनमें एक गम्भीर अन्तर भी है क्योंकि दृष्टान्त सदा आंशिक रूप से ही दार्ष्टान्त में घटित हुआ करता है, पूर्ण रूप से नहीं। उस अन्तर को समझ लेना भी आवश्यक है। खनिज स्वर्ण तो एक जड़ पदार्थ है, उसको शुद्ध करने के लिए तो कोई दूसरा, कोई धातुकर्मी चाहिए। परन्तु जीव तो चेतन है, स्वयं सामर्थ्यवान है; अपनी अशुद्धता का सही कारण समझकर और उसके अभाव का सही उपाय करते हुए इसे तो स्वयं ही अपने को शुद्ध करना है। न तो इसको शुद्ध करने का दायित्व किसी दूसरे का है और न ही किसी दूसरे में इसको शुद्ध करने की सामर्थ्य है। जो आत्माएँ अशुद्धता के रोग से स्वयं को मुक्त कर सकीं वे हमें उस मार्ग की, उस विज्ञानकी केवल जानकारी दे सकती हैं; और उनको देख कर हम स्वयं

में उन-रूप होने का उमंग-उत्साह पैदा कर सकते हैं, यह पुरुषार्थ तो हमें स्वयं ही करना पड़ेगा। भगवान् महावीर ने स्वयं को शुद्ध करके जीव मात्र को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे जीवों, तुम भी मेरी भाँति स्वयं को शुद्धात्मा बना सकते हो।

जीव का कर्म व शरीर से सम्बन्ध, और पुनर्जन्म

यद्यपि यह जीव ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है, तथापि अशुद्ध अवस्था में इसके साथ कर्मों का संबंध है। उस कर्म-सम्बन्ध की वजह से इसको बहिरंग में तो शरीर की प्राप्ति है और अंतरंग में राग-द्वेष रूप विकारी भावों की प्राप्ति है। यह स्वयं को न जानकर—मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, इत्यादि की जानकारी से बेखबर—इन शरीर-मन-वचन को ही आत्मा मान रहा है, क्रोधादि भावों को ही अपने स्वभाव मान रहा है। जिस शरीर को प्राप्त करता है, उसी शरीर-रूप अपने को मान लेता है। शरीर की उत्पत्ति से अपनी उत्पत्ति, शरीर के नाश से अपना नाश, शरीर में रोग होने से स्वयं को रोगी, और शरीर के स्वस्थ होने से स्वयं को स्वस्थ मानता है, जबकि वस्तुस्वरूप इसके विपरीत है—जीवात्मा का अस्तित्व अलग है, शरीर का अस्तित्व अलग; शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

जीवात्मा का पुनर्जन्म है। प्रत्येक आत्मा जिस-जिस प्रकार के परिणाम या भाव करता है, उन्हीं के अनुसार अच्छी-बुरी गति को प्राप्त होता है। जिन जीवों के परिणाम सरल हैं, माया और पाखण्ड से रहित हैं, वे देवगति को प्राप्त करते हैं। जिनके मायायुक्त परिणाम हैं—कहते कुछ हैं और करते कुछ और ही हैं—वे पशु-पक्षी आदि हो जाते हैं। जो अल्प-आरंभी और अपेक्षाकृत संतोषी जीव हैं, वे मनुष्य होते हैं। और, जिनके बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह की लालसा होती है, वे नारकी होते हैं। गति के समान ही वातावरण आदि की प्राप्ति भी जीव को पूर्वकृत परिणामों के अनुसार ही होती है। कोई धनिक परिवार में पैदा होता है तो कोई गरीब के घर। कोई गरीब के घर पैदा होकर भी धनिक परिवार में चला जाता है। किसी को किंचित् परिश्रम मात्र से सब साधन-सामग्री सुलभ हो जाती है और किसी को बहुत चेष्टा करने पर भी प्राप्त नहीं होती। इन सब बातों से कर्म की विचित्रता

मालूम होती है। जीव जिस प्रकार के अच्छे-बुरे परिणाम करता है, उसके अनुसार ही उसके कर्म-सम्बन्ध होता है। और, कर्म के माध्यम से वैसा ही फल कालान्तर में उसको मिलता है। दोष कर्म का नहीं, हमारा ही है। कर्म तो मात्र एक माध्यम है। यह जीव जैसा बीज बोता है, वैसा ही फल इसको प्राप्त होता है।

यद्यपि इस जीव की कर्म के संयोग से उपर्युक्त प्रकार की विभिन्न व विचित्र अवस्थाएँ हो रही हैं, तथापि इसका मूल स्वभाव इन सब परिवर्तनों-विकारों से अछूता बना हुआ है। उस चैतन्य को, अपने मौलिक स्वभाव को हम कैसे पहचाने ? इसके लिए हमें वस्तुस्वरूप को तनिक गहराई से समझना होगा।

वस्तु : सामान्य-विशेषात्मक

प्रत्येक वस्तु, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, सामान्यविशेषात्मक है। 'सामान्य' और 'विशेष' ये दोनों ही वस्तु के गुणधर्म हैं, अथवा कह सकते हैं कि :

$$\text{वस्तु} = \text{सामान्य} + \text{विशेष}।$$

'सामान्य' वस्तु की वह मौलिकता है जो कभी नहीं बदलती जबकि वस्तु की जिस समय जो अवस्था है वही उसका 'विशेष' है। वस्तु की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। मान लीजिए कि सोने का एक मुकुट था, फिर उसको तुड़वा कर हार बनवा लिया गया, कालान्तर में हार को तुड़वा कर कंगन बनवा लिया गया—अवस्थाएँ तो बदलीं, परन्तु सोना सोनेरूप से कायम रहा। इस उदाहरण में मुकुट, हार, कंगन आदि तो विशेष हैं जबकि स्वर्णत्व सामान्य है। अवस्थाएँ तो नाशवान हैं परन्तु वस्तु की मौलिकता या वस्तुस्वभाव अविनाशी है, शाश्वत है, ध्रुव है। इसी प्रकार एक बालक किशोर-अवस्था को प्राप्त होता है, फिर कालक्रमानुसार किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़, और प्रौढ़ से वृद्ध होता है। बालक, किशोर आदि अवस्थाएँ तो बदल रही हैं, परन्तु मनुष्य मनुष्यरूप से कायम है। अवस्थाओं या विशेषों के परिवर्तित होते हुए भी उन सब विशेषों में मनुष्यत्व-सामान्य ज्यों का त्यों है। यही बात पौद्गलिक वस्तुओं के सम्बन्ध में है—जैसे दूध को जमा कर

दही बनाया गया, दही को बिलोकर मक्खन, और मक्खन को गर्म करके घी बनाया गया। यहाँ दूध, दही आदि सब अवस्थाओं में गोरसपना एक रूप से विद्यमान है। अथवा, जैसे पुद्गल की वृक्ष-स्कंध रूप एक अवस्था थी, वह काट डाला गया तो लकड़ी रूप अवस्था में परिणत हुआ; फिर वह लकड़ी जलकर कोयला हो गई और फिर वह कोयला भी धीरे-धीरे राख में बदल गया, परन्तु पुद्गल पदार्थ पुद्गल रूप से अभी भी कायम है। अब चेतन पदार्थ का एक और उदाहरण लेते हैं। एक मनुष्य मर कर देव हो गया, वह देव संक्लेशभाव से मरा तो पशु हो गया, पशु से पुनः मनुष्य पर्याय प्राप्त की। अवस्थाएँ तो बदलीं परन्तु जीवात्मा वही-की-वही है। इसी प्रकार किसी आत्मा के द्वेष-रूप भाव हुए, फिर द्वेष का अभाव होकर राग-रूप भाव हो गए, फिर राग का भी अभाव होकर वीतरागता रूप परिणति हुई। इन सब परिवर्तनों-परिणतियों के बावजूद आत्मा अपने आत्म-रूप से ही कायम है। वस्तुओं में ऐसा परिवर्तन लगातार होता रहता है—परिणमन करना वस्तु का स्वभाव है। हरेक पौद्गलिक चीज नई से पुरानी होती रहती है, और यह बदलाव उसमें प्रतिक्षण होता रहता है। एक किताब जिसके पन्ने तीस-चालीस साल में पीले पड़ जाते हैं, कागज कमजोर हो जाता है, तो ऐसा नहीं है कि वह बदलाव उसमें चालीस बरस बाद आया है। वह कागज तो प्रतिक्षण पीला हुआ है, कमजोर हुआ है। एक बालक अचानक युवा नहीं हो जाता या एक युवा अचानक वृद्ध नहीं हो जाता अपितु वह प्रतिक्षण वृद्ध हो रहा होता है। परन्तु सूक्ष्म परिवर्तन, प्रतिसमय होने वाला बदलाव हमारी पकड़ में नहीं आता। जब काफी वक्त गुजर जाता है तब हमारी पकड़ में आता है, स्थूल परिवर्तन को ही हमारी बुद्धि पकड़ पाती है। पुद्गल का पुद्गल रूप ही परिणमन होगा, चेतन का चेतन रूप ही परिणमन होगा। चेतना का परिणमन कभी चेतन-स्वभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकता, और पुद्गल का परिणमन कभी पुद्गलत्व का अतिक्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता, और अचेतन कभी चेतन नहीं हो सकता।

‘सामान्य’ और ‘विशेष’ एक ही वस्तु के गुणधर्म होते हुए भी परस्पर भिन्न हैं। ‘सामान्य’ एक है और ‘विशेष’ अनेकानेक, ‘सामान्य’

अपारेवतनीय-आवेनाशा ह जबाक 'विशेष' पारवतनशाल या नाशवान। सामान्य और विशेष में यद्यपि भेद है फिर भी वे अभिन्न हैं—उनको एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता (परन्तु उनका अलग-अलग ज्ञान अवश्य किया जा सकता है क्योंकि दोनों का स्वरूप अलग-अलग है)। अथवा यूँ कह सकते हैं कि सिर्फ सामान्य या सिर्फ विशेष का होना असम्भव है। वस्तुतः एक के बाद एक होने वाले विभिन्न विशेषों में जो सातत्य (Continuity), एकता या समानता का भाव है वही सामान्य है। वस्तु का 'सामान्य' मोतियों के हार के डोरे की तरह सर्व विशेषों में निरंतर विद्यमान एक भाव है। मिट्टीपना सामान्य है और मृत्तिका-पिण्ड, घड़ा, ठीकरा आदि उसके विशेष हैं—सभी विशेषों में सामान्य एक रूप से व्याप्त है। विशेष बदल रहे हैं, सामान्य एक रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा चैतन्य रूप से कायम है, परन्तु उसकी अवस्थाएँ बहिरंग और अंतरंग—दो प्रकार से—बदल रही हैं। बहिरंग में तो यह आत्मा शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा कभी मनुष्य, कभी देव, कभी पशु, कभी नारकी रूप से परिणमन करता है, और मनुष्यादि पर्यायों में पुनः—जैसा कि ऊपर जिक्र कर चुके हैं—बालक, युवा, वृद्ध आदि रूप बदलता रहता है। दूसरी ओर, अन्तरंग की अपेक्षा इस आत्मा में कभी क्रोध होता है तो कभी मान, कभी माया रूप परिणाम होते हैं तो कभी लोभ रूप, और कभी इन कषाय-परिणामों के अभाव-रूप वीतराग, शुद्ध परिणाम होते हैं, परन्तु इन सभी परिणतियों में चैतन्य तो चैतन्य-रूप से सदा कायम है। वह तो अविनाशी है, सदाकाल एक-सा रहने वाला है।

वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को जानना जरूरी क्यों ?

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक अथवा द्रव्यपर्यायात्मक है, परन्तु वस्तु के सामान्य-स्वरूप (द्रव्य-स्वभाव) का ज्ञान न होने के कारण हमने वस्तु को मात्र विशेष/पर्याय-रूप ही माना है, जाना है, और अनुभव किया है। दूसरे शब्दों में कहें तो हमने आत्म-वस्तु के विशेष/पर्यायरूप को ही सम्पूर्ण वस्तु माना है, जाना है, अनुभव किया है। फलतः मात्र पर्याय में जो शरीरादिक संयोग तथा रागादिक विकार थे, उन्हीं में हमारा अपनापना, एकत्व, स्वामित्व और अहम्पना आ गया, जिसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्मफल

में ही वृद्धि होती रही है। अब हमें यदि द्रव्य-सामान्य का ज्ञान हो जाये, तो पर्याय/विशेष में एकत्व, अपनापना, अहम्पना मिट कर द्रव्यपर्यायात्मक/सामान्यविशेषात्मक जैसी वस्तु है—जैसा कि उसका सम्यक् स्वरूप है—उसकी वैसी ही श्रद्धा/प्रतीति हो जाये। तब शरीर तो रहेगा, परन्तु हमें विनाशी और संयोगी प्रतिभासित होगा—जैसा कि यह वस्तुतः है। रागादिक भी होंगे, परन्तु आत्मा के अपने स्वभाव-रूप न दिखाई देकर विकार-रूप तथा नाशवान् दिखाई देंगे—जैसे कि ये वास्तव में हैं। तब रागादिक तथा शरीरादि के अभाव में मुझ आत्मा का अभाव नहीं हो सकता, ऐसा स्पष्ट निर्णय घटित होगा।

जब स्वयं को पर्यायरूप अथवा शरीरादि/रागादि-रूप अनुभव करता था, तो राग बढ़ता था; अब यदि स्वयं को द्रव्यस्वभावरूप अनुभव करने लगता है, तो रागादि में कमी होने लगती है और आत्मा क्रमशः रागादि से रहित होकर शुद्ध हो जाता है, साथ-ही-साथ शरीरादि की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म का भी अभाव हो जाता है। आत्मोन्नति के इस मार्ग की शुरुआत भी तभी संभव है जबकि द्रव्यपर्यायात्मक/सामान्यविशेषात्मक वस्तु-स्वरूप की अविकल, अनैकांतिक श्रद्धा हो, पर्याय/विशेष को गौण करके द्रव्य-स्वभाव/वस्तु-सामान्य को मुख्य करे और अपने को उस-रूप अनुभव करे—तभी आत्म-अनुभव फलित हो सकेगा। अतः वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप को जानना न केवल महत्वपूर्ण है, अपितु नितान्त आवश्यक है।

सामान्य-विशेष को समझाने की प्रतीकात्मक शैली

चैतन्य-सामान्य को पहचाने बिना धर्म की शुरुआत सम्भव नहीं, यह निश्चित है। परन्तु विशेषों में ही उलझे रहने के कारण, उन्हीं में अपनत्व-बुद्धि होने के कारण हम संसारी जीवों के लिए उस चैतन्य को पकड़ पाना मुश्किल लग रहा है। ऊपर दिये गये पुद्गल-सम्बन्धी उदाहरणों में स्वर्णपना, गोरसपना, मिट्टीपना आदि सामान्यों को पकड़ पाना तो आसान है, परन्तु देव-मनुष्य आदि बाह्य पर्यायों और क्रोधादिक अंतरंग परिणामों के परे, उनसे विलक्षण उस चेतन-सामान्य तक पहुँच पाना हमारे लिए कठिन

हो रहा है। अपनी वर्तमान स्थिति में हम 'विशेषों' के तो नजदीक खड़े हैं और 'सामान्य' हमसे दूर, बहुत दूर है। अतः यह अनुचित नहीं होगा कि हम विशेषों को 'यह' और सामान्य को 'वह' द्वारा अभिव्यक्त करें, और तब इस प्रतीकात्मक शैली में पूर्ण वस्तु की अभिव्यक्ति होगी 'यह+वह' द्वारा।

जो उंगली से दिखाया जा सके, जिसकी ओर इशारा किया जा सके, वह तो 'यह' है। और जो देखा तो न जा सके परन्तु जिसकी सत्ता हो, जो जाना न जा सके परन्तु जिसका अस्तित्व हो, जो विद्यमान हो, वह 'वह' है। विज्ञान जिसे जान सकता है वह 'यह' है, जिसे विज्ञान नहीं जान सकता वह 'वह' है। विज्ञान का सम्बन्ध 'इस' से है और धर्म का सम्बन्ध 'उस' से है। इसी वजह से विज्ञान और धर्म का कोई भी मिलान नहीं है। 'यह' 'वह' नहीं हो सकता और 'वह' 'यह' नहीं हो सकता, फिर भी वे दोनों अलग नहीं हैं। 'यह' बहुत निकट है, 'वह' बहुत दूर है। 'यह' बुद्धि के द्वारा, मन के द्वारा, इन्द्रियों के द्वारा जाना जा सकता है। 'वह' अनुभव में आता है, परन्तु व्यक्त करते ही, शब्दों का जामा पहनाये जाते ही 'यह' हो जाता है। यहाँ तक कि उसको कोई नाम देते ही वह 'यह' हो जाता है। ज्ञान की सीमा होती है परन्तु अनुभव निस्सीम होता है। 'वह' निकटतम भी है और सबसे दूर भी है। पूर्ण वस्तु यदि एक वृत्त है, सर्कल (Circle) है तो 'वह' है केन्द्र और 'यह' है परिधि। केन्द्र एक बिन्दु रूप है और परिधि है एक अन्तहीन चक्कर।

धर्म कहता है कि तुम 'वह' ही हो। कोई यात्रा की दरकार नहीं है। तुम यहीं और अभी 'उसे' पा सकते हो। अगर 'इस' का अतिक्रमण करो तो 'उस' में होंगे। केन्द्र पर जाने के लिए परिधि का अतिक्रमण करना होगा। केन्द्र परिधि नहीं है, यदि परिधि होती तो अब तक पहुँच जाते। परन्तु परिधि पर दौड़ो तो भी केन्द्र पर नहीं पहुँच सकते। उसके लिए तो केन्द्र की ओर मुँह करके छलाँग लगानी पड़ेगी। यही कारण है कि ऊँचे से ऊँचा आचरण, और ऊँचे से ऊँचा अध्ययन, जो कि परिधि के ही हिस्से हैं, आत्म-स्वरूप रूपी केन्द्र पर नहीं पहुँचा सकते; केन्द्र के लिये तो परिधि से छलाँग लगाना जरूरी है।

जिसका कोई नाम है वह 'यह' है। जैसे आप पुरुष हैं, स्त्री हैं—ये भी नाम हैं। लेबल लगाना मात्र परिधि है। कोई केन्द्र है जो बिना नाम का है।

पुरुष-स्त्री होना, युवा-वृद्ध होना, स्वस्थ-अस्वस्थ होना, सुंदर-कुरूप होना—ये सब 'यह' के हिस्से हैं। इन सबके परे कुछ है; यदि उसको अनुभव किया तो 'वह' का स्पर्श होता है।

हम एक मृत संसार में रहते हैं। वह मृत संसार ही 'यह' है; जो मरण से रहित है वह 'वह' है। उसको परमात्मा कहना भी उस पर लेबल लगाना है। यदि हम निर्विकल्प अवस्था में हैं तो 'वह' हैं, और यदि विचार में हैं तो 'यह' हैं। जब विचार में हैं तो अपनी आत्मा में नहीं हैं। जितने गहरे विचार में जाते हैं उतने ही 'वह' से दूर हो जाते हैं।

समाज हमारे 'वह' में रस नहीं लेता, समाज तो 'यह' में रस लेता है। 'यह' हमारे अहंकार से मिला हुआ है—अपने नाम से, अपने माँ-बाप और परिवार से, अपनी शिक्षा से, अपने पद से, अपने सम्प्रदाय से, अपनी भाषा से, अपने देश से जुड़ा हुआ है। ये सब हमारे 'यह' के हिस्से हैं न कि 'वह' के। 'वह' किसी से जुड़ा हुआ नहीं है, 'वह' किसी से सम्बन्धित नहीं है, 'वह' तो एक अकेला है। 'वह' तो अपने आप में परिपूर्ण है। जब एक बार 'वह' अनुभव में आ जाएगा तो 'यह' ऊपरी दिखावा मात्र हो जाएगा। फिर सब जगह 'वह' ही 'वह' दिखाई देगा। तब 'यह' दूर हो जाएगा और 'वह' नजदीक हो जाएगा। हमारे लिये ज्वलंत प्रश्न यह है कि हम 'यह' में जी रहे हैं या 'वह' में। यदि हमारा सर्वस्व 'यह' में है तो हमारा दुख किसी भी तरह नहीं मिट सकता; और, यदि हम 'वह' में हैं तो हमारे दुखी होने का कोई कारण ही नहीं है।

अगर कोई व्यक्ति नाटक में पार्ट कर रहा है तो वहाँ पर जो पार्ट है, वह 'यह' है। और जो पार्ट करने वाला व्यक्ति है वह 'वह' है। रोल अदा करते हुए भी उसे वह कौन है इसका ज्ञान है। 'यह' की लाभ-हानि, यश-अपयश, जीवन-मरण होते हुए भी उसे कोई सुख-दुख नहीं, क्योंकि उसने 'वह' में अपने को स्थापित कर रखा है। उसके लिए 'वह' नजदीक है और 'यह' दूर है। इसी प्रकार घड़ा 'यह' है और माटी 'वह' है। दोनों साथ-साथ हैं, परन्तु घड़े के न रहने पर भी माटी का अभाव नहीं है। घड़े के फूटने पर भी माटी 'वही' रूप से कायम है। इसी प्रकार आत्मा की स्थिति है। आत्मा का चेतनपना 'वह' है और क्रोधादि अवस्थाएँ 'यह' हैं। यदि हमने शरीर को

और क्रोधादि को ही अपना मान रखा है, चैतन्य को अपना नहीं माना है, तो हमने 'वह' को न जानकर, 'यह' को ही 'वह' माना है—'यह' नाशवान है, अतः 'यह' के नाश से 'वह' का नाश मान रहे हैं। सही ज्ञान होने के लिए 'यह+वह' का ज्ञान होना जरूरी है। सिर्फ 'वह' को ही मानें तो भी सही ज्ञान नहीं है, सिर्फ 'यह' को ही मानें तो भी सही ज्ञान नहीं है। 'वह' को 'यह' मानें, या 'यह' को 'वह' मानें, या 'वह' को अलग और 'यह' को अलग मानें, तब भी वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं है। 'यह' और 'वह' एक साथ, एक समय में होते हुए अलग भी हैं; और 'वह' के बिना 'यह' नहीं, 'यह' के बिना 'वह' नहीं है। परन्तु 'वह' 'यह' नहीं है और 'यह' 'वह' नहीं है। जो 'वह' को नहीं जानता, उसके 'यह' में ही 'वह-पना' आ जाता है। अतः उसको 'यह' में 'वह' छुड़ाने के लिए 'वह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है। और जो लोग 'यह' को नहीं मानते, उसे मिथ्या, भ्रम, माया आदि कहते हैं, उन्हें 'यह' का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे कि दोनों ही प्रकार के लोग 'यह+वह' का ज्ञान कर लें, आत्म-वस्तु के सही ज्ञान को प्राप्त हो जायें। सही ज्ञान करके 'यह' से सरकना है और 'वह' रूप रहना है, यही आनन्द का मार्ग है।

विशेषों का संसार : नाटकवत् वा स्वप्नवत्

मान लीजिये कि कोई अभिनेता अभिनय करते हुए अपने असली रूप को भूल जाता है, नाटक या फिल्म में अपने पार्ट या रोल को ही वास्तविकता मान लेता है, और फलस्वरूप दुखी-सुखी होने लगता है। तो फिर उसका वह दुख कैसे दूर हो ? उपाय बिल्कुल सीधा है। यदि उसे अपने निजरूप का—जिसे वह अभिनय के दौरान भुला बैठा है—फिर से अहसास करा दिया जाये, तो उसका रोल वास्तविक न रह कर केवल नाटकीय रह जायेगा और अभिनय करते हुए भी उसका भीतर में दुखी-सुखी होना मिट जायेगा। यही सही उपाय है उसका दुख दूर करने के लिए। रोल को बदलना सही उपाय नहीं है क्योंकि रोल्स तो गरीब का, अमीर का, निर्बल का, बलवान का मिलते ही रहेंगे। परन्तु यदि अपना खुद का अहसास बना रहे तो चाहे जैसा भी रोल हो उसको अदा करते हुए भी दुखी नहीं होगा।

बिल्कुल इसी प्रकार इस जीव की स्थिति है। आत्म-विज्ञान के सर्वप्रथम और मौलिकतम सूत्र के रूप में भगवान् महावीर ने बतलाया कि अपने उस चैतन्य-सामान्य का आश्रय लेकर ही यह जीव अन्ततः राग-द्वेष का अभाव कर सकता है। मनुष्य, पशु आदि शरीरों का सम्बन्ध और क्रोध-मानादि विकारों का होना तो मात्र उस चेतन-वस्तु के विशेष हैं, आत्मोन्नति का मार्ग तो इन अनित्य-नाशवान अवस्थाओं से भिन्न चैतन्य-सामान्य में तादात्म्य, अपनापना स्थापित करना है। इसने भी स्वयं को न पहचान कर, कर्मजनित रोल को ही वास्तविक मान लिया है, इसलिए दुखी-सुखी हो रहा है। दुख से बचने के लिए इसने समय-समय पर उन रोल्स को बदलने की चेष्टा तो की, और कर्म के उदय के अनुसार कदाचित् इसका रोल बदल गया तो इसने स्वयं को सुखी मान लिया, परन्तु इन रोल्स से भिन्न जो अपना स्वरूप है उसे जानने की चेष्टा नहीं की। यदि करता तो रोल में असलियत का भ्रम भिट कर वह मात्र नाटक रह जाता। फिर इसे चाहे जो भी रोल्स मिलते इसका उनमें दुखी होना असंभव था।

जीव की इस विडम्बना को देखकर भगवान् महावीर ने बतलाया कि तू यदि कर्मकृत रोल में असलियत मानेगा तो नये-नये रोल्स करने के लिए कर्मों का संचय करता रहेगा, उन कर्मों के अनुसार तुझे रोल करने पड़ेंगे। पुनः यदि उनमें अपनापना मानेगा तो फिर नये रोल्स के कारणभूत कर्मों का संचय होगा। तेरी यही दशा अनन्त काल से चली आ रही है। यदि तू स्वयं को पहचान कर कर्मजनित रोल को मात्र रोल समझ ले, तो फिर न तो तू ही उस रोल की वजह से दुखी-सुखी होगा और न ही तुझको नये रोल्स करने के लिए कर्मों का संचय होगा। और इस प्रकार अन्त में जब पूर्वसंचित कर्मों के द्वारा रचा हुआ तेरा अन्तिम रोल भी समाप्त हो जायेगा तो फिर इन कर्मजनित रोल्स से सर्वथा रहित जैसा तू निज में है वैसा ही रह जायेगा।

इस बात को तनिक विस्तार से समझना ठीक होगा। यह जीव निरन्तर कर्म के अनुसार मनुष्य-देव-पशु-नारकी का रोल कर रहा है। चूंकि अपने को नहीं जानता कि मैं चैतन्य हूँ, अतः उस रोल को ही अपना स्वरूप मानता है और दुखी-सुखी होकर नवीन कर्मों का संचय करता है। इन कर्मों के फलस्वरूप फिर नया रोल मिलता है। यदि अच्छे कर्मों का संचय किया तो

धनवान का, राजा-महाराजा का, नीरोग-स्वस्थ-सुन्दर-बुद्धिमान व्यक्ति का, इन्द्र-देवेन्द्र आदि का रोल मिल जाता है। यदि बुरे कर्मों का संचय किया तो गरीब-दरिद्र का, रोगी-अपंग-कुरूप-मूर्ख व्यक्ति का, पशु-पक्षी आदि का रोल मिल जाता है। जो भी अच्छा-बुरा रोल मिलता है वह इस जीव की इच्छा के आधीन नहीं मिलता, अपितु इसके पूर्वकृत कर्मों के आधीन ही मिलता है। चूंकि यह जीव स्वयं को, निजरूप को नहीं जानता, अतः उस कर्मकृत शरीर को मान लेता है, कि 'यही मैं हूँ' और उसी के साथ समूचे परिवार में, समूची बाह्य सामग्री में भी अपनापना मान लेता है। अपनी इस मान्यता के वशीभूत हुआ यह जीव जब इनके वियोग को प्राप्त होता है तो 'मेरा अमुक मर गया', 'मैं मर गया', 'मेरी अमुक चीज चली गयी', 'मैं लुट गया' इत्यादिक प्रकार से रोता है, दुखी होता है। अथवा किसी व्यक्ति-वस्तु का वियोग इसे न भी हुआ हो तो 'अमुक की प्राप्ति नहीं हुई' इस प्रकार किसी न किसी पदार्थ का अभाव इसको खटकता रहता है, जैसे कि स्वास्थ्य, धन, पद, प्रतिष्ठा का अभाव या स्त्री, संतान आदि का अभाव। इस प्रकार जब यह दुखी होता है तो वर्तमान अवस्था को दुख का कारण मानकर दूसरी अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा करता है। जैसे कि गरीबी को दुख का कारण मानता है तो धनवान बनना चाहता है। परन्तु यह नहीं समझता कि इन अवस्थाओं में बदलाव होना भी पूर्वसंचित कर्मों के आधीन ही है। अतः यदि संयोगवश कर्मों का अनुकूल उदय हुआ और इसकी कोई एक मनचाही बात कुछ समय के लिये हो भी गई तो फिर 'मेरे करने से ही यह हुआ' ऐसा मानकर अहंकार करता है और यदि इच्छा के अनुकूल उदय का संयोग नहीं बना और इसका मनचाहा नहीं हुआ तो फिर यह विषाद करता है। इस प्रकार अपने ही अहंकार और विषादयुक्त परिणामों के द्वारा पुनः नवीन कर्मों का संचय कर लेता है, जिनके फलस्वरूप पुनः शरीर आदि की प्राप्ति होती है और यह चक्कर बराबर चलता रहता है।

इस चक्कर को तोड़ने का उपाय इस जीव ने न तो कभी समझा और न कभी किया। इसने कभी भी यह चेष्टा नहीं की कि मैं निजरूप को जानूँ। यदि यह स्वयं को जान ले तो फिर कैसा भी कर्मजनित पार्ट क्यों न करना पड़े, उसमें अहंकार-ममकार होगा ही नहीं। चाहे जैसी भी बाह्य अवस्था हो वह इसको दुखी नहीं बना सकती। जब पार्ट ही करना है तो चाहे जिसका

पार्ट करना पड़े, क्या फर्क पड़ता है ? फिर भिखारी का पार्ट इसको दुखी नहीं कर सकता और धनिक का पार्ट इसके अहंकार की वजह नहीं बन सकता। जब यह स्वयं को जान लेता है तो पूर्वकृत कर्मों के फल शरीरादिक में अपनापना न रह कर 'ये स्वाँग मात्र हैं' ऐसा भाव रह जाता है। तब न तो दुःख-सुख हैं, न राग-द्वेष हैं, और न ही नवीन कर्मों का बंध है। पुराना कर्म जितना है, उतना अपना फल देकर चला जायेगा और तब यह कर्म से रहित, राग-द्वेष से रहित, जैसा इसका स्वरूप है वैसा ही रह जायेगा। इसलिए सुखी होने का, राग-द्वेष से रहित होने का उपाय अवस्थाओं में बदलाव लाना नहीं है अपितु अपने को जानना है, जिससे कि सभी प्रकार की अवस्थायें नाटक के रोलर्स ही दिखने लगे। अपने को जानने के बाद भी संसार अवस्था तब तक चलती है जब तक पूर्व संस्कारों को यह अपने पुरुषार्थ के बल पर नष्ट नहीं कर देता।

जीव की कर्मजनित अवस्थाओं की तुलना जिस प्रकार नाटक में होने वाले विभिन्न रोलर्स से की गई है, उसी प्रकार उनकी समानता स्वप्न से भी की जा सकती हैं। संसारी जीव की कर्मजनित, परिवर्तनशील और नाशवान अवस्थाएँ स्वप्न की भाँति ही अर्थहीन और क्षणस्थायी हैं। कोई व्यक्ति जब तक स्वप्न देखता रहता है, तभी तक स्वप्न उसके लिए वास्तविक रहता है। परन्तु जैसे ही वह जगता है, वह स्वप्न वास्तविकता से विहीन मात्र स्वप्न रह जाता है। स्वप्न में उसकी जो भी अवस्थाएँ हुई थीं वे दुःख-सुख का कारण नहीं रह जाती। इसी प्रकार यह जीव अपने चैतन्य-स्वभाव में तो सो रहा है और संसार के कार्यों में जग रहा है। यदि यह अपने चैतन्य-स्वभाव में जग जाये तो संसार के समस्त कार्य स्वप्नवत् हो जाते हैं, अर्थहीन हो जाते हैं। इसलिए दुःख दूर करने का उपाय सुखद स्वप्न लेना नहीं बल्कि स्वप्न से जागना है।

२३ आत्म-अनुभव जरूरी है, बाकी सब मजबूरी है

आत्मा का राग-द्वेष से सम्बन्ध

अर्थहीन परिवर्तनों से व्याप्त इस मनुष्य जीवन में यदि कोई सार्थक उपलब्धि सम्भव है तो वह है अपने चैतन्य-सामान्य का, अपने स्वभाव का अनुभव। वह अनुभव कैसे हो ? अनुभव कर पाने से पहले उस निज स्वभाव को बुद्धि के स्तर पर ठीक से, विस्तार से समझ लेना आवश्यक है। स्वभाव वह होता है जो वस्तु की अवस्था बदलने पर भी न बदले, हमेशा कायम रहे। जैसे चीनी का स्वभाव है मीठापना; चीनी को मिट्टी में मिला दें, पानी में घोल दें, गर्म कर दें, परन्तु उसका मीठापना बराबर कायम रहेगा। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव है जाननपना। यद्यपि ज्ञान कम-ज्यादा होता रहता है, तथापि जाननपना हर हालत में कायम रहता है। यदि ज्ञातापना जीव का स्वभाव है तो राग-द्वेष का उससे क्या संबंध है; क्या राग-द्वेष भी जीव के स्वभाव हैं ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए एक दृष्टान्त पर विचार करते हैं। मान लीजिये कि एक बर्तन में आग पर चीनी रखी है और गर्म हो रही है। वहाँ पर चीनी में एक साथ दो बातें पाई जाती हैं, मीठापना और गर्मपना। मीठापना और गर्मपना एक साथ होते हुए भी मीठापना तो चीनी का अपना है जबकि गर्मपना अग्नि के सम्बन्ध से आया है। यद्यपि गर्म तो चीनी ही हुई है, तथापि गर्मपना चीनी का अपना नहीं, अग्नि का है। और फिर, गर्मपने के अभाव में चीनी का अभाव भी नहीं होता। अतः गर्मपना चीनी का स्वभाव नहीं हो सकता—गर्मपना चीनी के अस्तित्व से अलग है। बर्तन भी चीनी के अस्तित्व से अलग है। चीनी का अस्तित्व मात्र मीठेपने में है, जिसके होने पर चीनी का होना है, और जिसके अभाव में चीनी का अभाव है। अब दृष्टान्त को दार्ष्टान्त में घटाते हैं—यहाँ चीनी के मीठेपने की जगह तो जीव का ज्ञाता स्वभाव है, गर्मपने की जगह जीव के राग-द्वेषादि भाव हैं, बर्तन की जगह शरीर है, और अग्नि के स्थान पर मोहकर्म है। दृष्टान्त की

भाँति ही आत्मा में भी जाननपना और राग-द्वेष (शुभ-अशुभ भाव) एक साथ होते हुए भी जाननपना तो स्वयं चेतन का है जबकि राग-द्वेष वस्तुतः मोहकर्म के सम्बन्ध से आ रहे हैं। राग-द्वेष के अभाव में भी आत्मा का अभाव नहीं होता इसलिए राग-द्वेष आत्मा में होते हुए भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हो सकते। आत्मा का स्वभाव तो जाननपना मात्र है जो आत्मा में सदाकाल विद्यमान रहता है। जाननपना या ज्ञायकपना ही स्वयं को जानने वाला है। परन्तु अनादिकाल से वह ज्ञायक स्वयं को ज्ञानरूप अनुभव न करके राग-द्वेषरूप अनुभव कर रहा है। आचार्य करुणावश उसी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि राग-द्वेषरूप तू नहीं है, शरीर-रूप भी तू नहीं है, तू तो मात्र चैतन्य है। फिर तू स्वयं को चैतन्यरूप अनुभव न करके राग-द्वेषरूप क्यों अनुभव कर रहा है? ये राग-द्वेष तो परकृत कार्य हैं, तेरे स्वभाव तो हैं नहीं। फिर तू इनसे भिन्न अपने ज्ञायक स्वभाव का अनुभव क्यों नहीं करता जैसा कि तू वस्तुतः है।

आत्मा का शरीर से सम्बन्ध

राग-द्वेषरूपी विकारों से भिन्न होने के साथ ही यह आत्मा शरीर से भी भिन्न है जैसे कि ऊपर दिये गये दृष्टान्त में चीनी बर्तन से भिन्न है; अथवा जैसे तलवार म्यान से भिन्न है—चाँदी की तलवार कही जाने पर भी वस्तुतः तलवार चाँदी की नहीं है, वह तो लोहे की ही है, केवल म्यान चाँदी की है। शरीर और आत्मा का एक साथ संयोग होते हुए भी वे दोनों कभी भी एक नहीं होते। दोनों के लक्षण अलग-अलग हैं। आत्मा का लक्षण जाननपना है जबकि शरीर पौद्गलिक है, स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों वाला है, अचेतन है। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति का दुर्घटनावश एक हाथ कट जाता है और वह उसके सामने पड़ा है। वह हाथ तो जानने की शक्ति से रहित है परन्तु जानने वाला उसको जान रहा है। हम यह प्रत्यक्ष में देखते हैं कि मुर्दा पड़ा रह जाता है जबकि जानने वाला पदार्थ निकल कर चला जाता है। आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध उसी प्रकार का है जैसा कि शरीर के साथ कपड़े का है। जिस प्रकार कपड़े के मैला होने से शरीर मैला नहीं होता, कपड़े के फटने से शरीर नहीं फटता, और कपड़े के नाश से शरीर का नाश नहीं होता, उसी प्रकार शरीर के मैला होने से आत्मा मैली नहीं होती, शरीर के कटने-फटने

से आत्मा छिन्न-भिन्न नहीं होती, और शरीर का नाश होने से आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर अचेतन है, उसमें जानने की शक्ति नहीं होती, परन्तु जानने की शक्ति वाला चैतन्य-पदार्थ शरीर के माध्यम से—आँख, नाक, कान, जीभ, त्वचा के माध्यम से—बाह्य पदार्थों को जानता है। जानने वाली आँखें नहीं, बल्कि जैसे “चश्मे के माध्यम से आँखें देखती हैं” ऐसा लोक में माना जाता है, वैसे वस्तुतः आँखों के माध्यम से आत्मा जानती है। जानने वाला तो वह चैतन्य ही है, शरीर नहीं। शरीर तो केवल एक माध्यम है और वह माध्यम भी मात्र बाह्य पदार्थों, परपदार्थों के जानने में ही है। जब यह चैतन्य स्वयं को जानने में प्रयुक्त होता है तो उस माध्यम का भी कोई कार्य नहीं रह जाता।

स्वयं को शरीर से भिन्न, चैतन्य-रूप देखने के लिये किसी अन्य पदार्थ की सहायता नहीं चाहिये। परपदार्थों को जानने के लिये तो इन्द्रियों की और प्रकाशादि अन्य साधनों की जरूरत है, क्योंकि यह जानना बाहर की तरफ का है। परन्तु, आत्म-अनुभव करने में न तो प्रकाशादि की आवश्यकता है और न इन्द्रियों की, क्योंकि यह जानना भीतर में ही है। स्वयं को जानने के लिये हमें बाहर की ओर से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिये कि लोहे का एक पुतला, अग्नि से तप्त किया हुआ, एक बक्स में बंद है। यदि कोई व्यक्ति उसको देखे तो सबसे पहले उसकी भेंट बक्स से होगी, फिर तप्तपने (गर्मपने) से; लौहपने से तो उसकी भेंट सबसे अंत में होगी। परन्तु, यदि पुतले में ज्ञानशक्ति हो और वह स्वयं को अपने-रूप से देखना चाहे तो सर्वप्रथम वह अपने को लौह-रूप ही देखेगा। उसको दूसरे दर्शकों के समान, स्वयं तक बाहर की तरफ से पहुँचने की जरूरत नहीं है। इसी प्रकार जब यह आत्मा स्वयं को स्वयं-रूप अनुभव करता है, तब वह अनुभवन क्रिया अंतरंग में ही होती है—शरीर और रागादि भाव तो बाहर ही रह जाते हैं। इन्द्रियादिक की भी कोई दरकार नहीं होती—अंधा व्यक्ति भी अपने को उसी प्रकार चैतन्य-रूप अनुभव कर सकता है जिस प्रकार कि नेत्रवान। इसके विपरीत, जब हम स्वयं को शरीर-रूप देखते हैं तो हमारी दृष्टि भी वैसी ही होती है जैसी पुतला देखने वाले की थी—पहले शरीर से भेंट होती

है, फिर राग-द्वेषादि से (आत्म-स्वरूप तक पहुँचना तो बाहर की ओर से संभव ही नहीं)। बस यही स्वानुभव और परानुभव में मूल अन्तर है। अतः स्वानुभव के लिये साधक को अंतरंग में ही स्वयं तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिये।

ज्ञानशक्ति का द्यस

आत्मा में जानने की अनन्त शक्ति अन्तर्हित है। शुद्धात्मा में जब वह शक्ति प्रकट होती है, व्यक्त होती है तो वह बिना किसी पदार्थ की सहायता के त्रिलोक व त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। परन्तु वर्तमान अवस्था में, अशुद्ध अवस्था में उसकी शक्ति इतनी घटी हुई है कि वह आँख-कान आदि इन्द्रियों के माध्यम से तथा प्रकाश आदि बाह्य साधनों की सहायता से किंचित् मात्र पदार्थों को जान पा रहा है। जाननशक्ति में कमी का कारण यह है कि जीव ने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया है—उसे स्वयं में, निज स्वभाव में न लगा कर कर्म और कर्मफल (राग-द्वेष, शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों) में लगाया है। इसके विपरीत, यदि यह जीव अपनी जाननशक्ति को अपने ज्ञाता-स्वभाव में लगाये तो वही शक्ति बढ़ते-बढ़ते अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर केवलज्ञान-रूप हो सकती है। परन्तु, बड़े खेद की बात है कि जितनी शक्ति इसके पास वर्तमान में है उसको भी यह विषय-कषाय में ही लगा रहा है, जिसके फलस्वरूप इसकी जाननशक्ति द्यस की दिशा में ही अग्रसर है। यदि इसका दुरुपयोग इसी प्रकार चलता रहा तो यह घटते-घटते एक दिन अपने चरम अपकर्ष पर पहुँच जायेगी, अक्षरज्ञान के अनंतवें भाग मात्र रह जायेगी। हमारा ज्ञान जो इन्द्रियों के आधीन हुआ है उसका कारण हम स्वयं ही हैं—हमने उसको सही जगह नहीं लगाया। सही जगह तो केवल अपना स्वभाव ही है, यदि अनभ्यास के वश उसमें न लगा सकें तो जिन साधनों के द्वारा अपने स्वभाव की पुष्टि होती है उनमें लगाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त अन्य जगह लगाना तो ज्ञान का दुरुपयोग ही है जिसका फल कर्म की बढ़वारी और ज्ञान का द्यस है। धर्म या आत्म-विज्ञान का सम्बन्ध तो इतना ही है कि जो शक्ति हमारे पास है, हम उसका स्वरूप जानें और उसका सदुपयोग करें जिससे कि वह

वृद्धि की ओर अग्रसर हो। जाननशक्ति और राग-द्वेषादि विकार, इनका परस्पर में उल्टा सम्बन्ध है—जब विकार बढ़ते हैं तो सम्यक् ज्ञानशक्ति घटती जाती है, और जब सम्यक् ज्ञानशक्ति बढ़ती है तो विकार घटते जाते हैं। अतः ज्ञानशक्ति को स्वभाव में लगाने पर उसका विकास और विकारों का ह्रास एक साथ होता है। इस प्रकार जब विकारों का सर्वथा अभाव घटित होता है तब विकसित होती हुई ज्ञानशक्ति पूर्णता के सन्मुख होती है। अतः कषाय का अभाव और ज्ञानशक्ति की पूर्णता ही साक्षात् धर्म है।

अभी हमारी ज्ञानशक्ति पर में लगी हुई है, बाहर की ओर केन्द्रित है; उसको वहाँ से हटाना है। परन्तु यदि इतनी ही बात कही या समझी जाती है तो यह पूरी बात नहीं है, क्योंकि हटाने से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे कहाँ लगाना है। बाहर से हटाकर यदि सही जगह नहीं लगाया, निजस्वभाव में नहीं लगाया तो धर्म की सम्भावना नहीं हो सकती। अज्ञानी जाननशक्ति को पर से यदि हटाता भी है तो भीतर किस ओर लगाए, यह नहीं जानता। ज्यादा से ज्यादा अशुभ से हटाकर शुभ में लगा लेता है, परन्तु वह भी पर ही है। अन्धकार को दूर करने का जो उपदेश दिया जाता है उसका अभिप्राय अन्धकार को भगाने का नहीं बल्कि प्रकाश को लाने का होता है। अन्धकार को दूर करने का मतलब ही प्रकाश को लाना है। प्रकाश लाया जायेगा तो अन्धकार स्वतः दूर हो जायेगा। जो व्यक्ति इस प्रकार सही अर्थ को नहीं समझता उसके सम्भवतः उपदेश-ग्रहण की पात्रता नहीं है। जब इसे रत्नों की पहचान होगी और फलतः उनके ग्रहण की रुचि होगी तो फिर यह नहीं पूछेगा कि जो पत्थर मेरे पास पड़े हैं उनका मैं क्या करूँ। परन्तु, वे पत्थर कहाँ छूट गये इसका इसे पता भी नहीं चलेगा। यही बात वर्तमान संदर्भ में है—यदि इस जीव से संसार-शरीर-भोग छुड़ाने हैं तो इसको अर्थहीन, परिवर्तनशील, नाशवान वस्तुओं से विपरीत लक्षण वाले इस सार्थक, अपरिवर्तनीय, शाश्वत निज स्वभाव की पहचान करानी होगी, सूचित करना होगा कि यह तुझको मिला हुआ ही है, कि यही वह स्थल है जहाँ पूर्ण शान्ति और आनन्द है। और, यदि इसको निज स्वभाव की पहचान हो गयी, श्रद्धा हो गयी तो यह जहाँ खड़ा है—संसार, शरीर, भोगों के बीच—वहाँ से स्वयमेव हट जायेगा।

महत्त्व किसका : 'स्व' के ग्रहण का या 'पर' के त्याग का ?

सुख की प्राप्ति के लिये बाहर से हटना है, स्वभाव में लगना है। बाहर से हटना व्यवहार है, स्वभाव में लगना परमार्थ है। बाहरी आश्रय दो प्रकार के हैं, एक तो संसार-शरीर-भोगादिक—वे तो अशुभ हैं, उनमें लगने का फल पाप-बंध है। दूसरे वे हैं जिनसे स्वभाव की पुष्टि होती है, राग-द्वेष के अभाव की पुष्टि होती है, भेद-विज्ञान की पुष्टि होती है, वीतरागता की पुष्टि होती है—ऐसे देव, शास्त्र और गुरु। वे भी यद्यपि निज स्वभाव की अपेक्षा 'पर' ही हैं, उनमें लगना भी यद्यपि शुभ-भाव है जिससे पुण्य-बंध होता है, तथापि पुष्टि संसार की नहीं होती अपितु वीतरागता की होती है; अतः वे आत्मकल्याण में साधन भी हैं। तीसरा आश्रय उपर्युक्त दोनों आश्रयों से आगे अपना चैतन्य स्वभाव है जिसमें लगने का फल है राग-द्वेष का नाश होकर आत्मा की शुद्धता। जो जीव स्वभाव में लगना चाहता है उसे बाहर से हटना जरूरी है। परन्तु बाहर से हटना धर्म नहीं है, धर्म तो 'स्व' में लगना है। महिमा कितना त्याग किया इसकी नहीं है, महिमा तो यदि अपने स्वभाव को ग्रहण किया उसकी है। यदि हमने स्वभाव का ग्रहण नहीं किया तो हमारे मन में त्याग की महिमा आयेगी। उस त्याग की महिमा में चूंकि जिसका त्याग किया—पर पदार्थों का—उसी की महिमा है, अतः वह अहंकार का कारण बन जाती है। ऐसे त्याग से भी अहम् की ही पुष्टि होती है; और जो व्यक्ति अपने अहम् को पुष्ट करता है वह अपने संसार को, आवागमन के चक्र को ही पुष्ट करता है। वह अहम् चाहे धन-दौलत के त्याग से पुष्ट हो, चाहे धन-दौलत के परिग्रह से पुष्ट हो, या चाहे शास्त्र-ज्ञान से—अहम् की पुष्टि तो संसार ही है। वह तभी मिट सकता है जब हमारे अंतरंग में निज स्वभाव की महिमा जगे। कैसा है वह निज स्वभाव ? जिसका आश्रय परमात्मा बनने का सच्चा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर साधक परमात्मा बनता है; वह निज-स्वभाव, निज-परमात्मा ही परमार्थ है, परम आत्मा है, समयसार है।

अध्यात्म और चरणानुयोग : ग्रहण और त्याग की एकता

आज तक जो उपदेश हुआ वह त्याग का उपदेश तो हुआ परन्तु साथ में ग्रहण का नहीं हुआ। केवल त्याग का उपदेश देना आधी बात है, जब साथ में ग्रहण

का भी उपदेश दिया जाता है तभी बात पूरी होती है। त्याग और ग्रहण ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, जैसे कि रुपये के सिक्के की दो साइड्स (sides); यही चरणानुयोग और अध्यात्म की मित्रता है, एकता है। अथवा, इन दोनों की एकता मानो एक रस्सी है जिसका एक सिरा यदि चरणानुयोग है तो दूसरा सिरा अध्यात्म है। रस्सी का एक सिरा दूसरे के बिना नहीं हो सकता—ग्रहण त्याग की अपेक्षा रखता है और त्याग ग्रहण की। 'पर' से हटे बिना 'स्व' में आना सम्भव नहीं है, और यदि 'पर' से हटने मात्र पर ही दृष्टि रही—'स्व' में पहुंचने की बात उसमें गर्भित न हुई—तो वहाँ ज्यादा से ज्यादा इतना ही होगा कि एक 'पर' से हटकर दूसरे 'पर' में अटकाव हो जायेगा। यदि हम दोनों अनुयोगों की मैत्रीरूपी इस रस्सी को काटकर दो कर देते हैं, तब न तो अकेला अध्यात्मवाद कार्यकारी है और न ही अकेला चरणानुयोग अर्थात् बाहरी आचरण। रस्सी को काट देने से दोनों ही एकान्तवाद बन जाते हैं। और यदि एक-दूसरे के सापेक्ष इनके सही स्वरूप को माना जाये तो चरणानुयोग अध्यात्म का पूरक होगा और अध्यात्म चरणानुयोग का।

असल में सच्चा मोक्षमार्ग अध्यात्म और चरणानुयोग की एकता से ही बनता है। जैसे-जैसे साधक आत्मस्वभाव के सन्मुख होता है, वैसे-वैसे कर्म हल्के होते जाते हैं और वैसे-वैसे ही आचरण बदलता जाता है। यह मिलान है; अगर बाहरी आचरण सही नहीं है तो कर्म भी हल्के नहीं हुए और स्वभाव की साधना भी नहीं हुई, ऐसा नियम है। यदि कोई व्यक्ति बाहरी आचरण की तरफ से चलता है और स्वरूप के प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो जब वह स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब वही बाहरी आचरण सच्चा व्यवहार बन जाता है, उसमें सच्चाई आ जाती है।

आत्म-अनुभव जीव का अपना चुनाव

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, इस जीव की जाननशक्ति निरन्तर पर में लगी हुई है—शरीर और शरीर-सम्बन्धी पदार्थों की ओर केन्द्रित है। यह जीव अपने को शरीर-रूप देखता है, शरीर के स्तर पर खड़ा होता है तो पाता है कि स्वास्थ्य, सौन्दर्य, बुद्धि, शैक्षिक उपाधि, धन, पद, प्रतिष्ठा, स्त्री-

पुत्रादिक परिजन, कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र आदि ये सब मेरे हैं, ये ही मैं हूँ। इनके अभाव में अपना अभाव व इनके होने में अपना होना मानता है। फल यह होता है कि इन पदार्थों से सम्बन्धित हजारों प्रकार के विकल्प और आकुलताएँ, यहाँ तक कि नाना प्रकार की संभावित परिस्थितियों से संबंधित आकुलताएँ भी, उठ खड़ी होती हैं, और इन विकल्पों-आकुलताओं में फँसकर यह जीव दुखी होता रहता है। कदाचित् कोई एक आकुलता कुछ समय के लिए मिटती भी है तो अन्य हजारों उस समय भी मौजूद रहती हैं। और जो मिटी है वह भी कुछ समय बाद फिर आ जाती है, संभावना तो यद्यपि वहाँ सबकी ही पड़ी हुई है। एक-दो आकुलताएँ कम होने से यह जीव स्वयं को सुखी मान लेता है, परन्तु वास्तविक सुख यहाँ नहीं है। जिसे यह सुख मान लेता है वह सुखाभास के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। और जब यह शरीर के स्तर पर न होकर चेतना के स्तर पर खड़ा होता है, स्वयं को चैतन्य-रूप देखता है तो इसके आकुलता पैदा होने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। आत्मा के स्तर पर न कोई रोग है और न किसी का मरण, न कुछ आना है और न कुछ जाना है; जो अपना है वह हमेशा अपना है, जो पर है वह हमेशा पर है। ऐसा अनुभव आने पर सभी प्रकार की आकुलताएँ और विकल्प करने का कारण समाप्त हो जाता है। इसीलिए आचार्यों ने बतलाया कि हे जीव ! तू स्वयं को शरीर-रूप—जैसा तू नहीं है—न देखकर चेतना-रूप देख, जैसा कि तू अनादिकाल से है और सदाकाल बना रहेगा। स्वयं को चैतन्यरूप देखना ही तेरी ज्ञानशक्ति को बढ़ाकर पूर्ण कर देगा और राग-द्वेषजनित विकल्पों को हटाकर तुझे शुद्ध कर देगा। ऐसा तू वर्तमान में कर सकता है; यह तेरा अपना चुनाव है कि चाहे स्वयं को तू शरीर-रूप देखे, चाहे चैतन्य-रूप। शरीर-रूप देखने का फल तो चौरासी लाख योनियों में अनादिकाल से तू निरंतर भोगता आ रहा है। जिन्होंने स्वयं को चैतन्यरूप देखा वे परम आनन्द को प्राप्त हो गये। यदि तुझे भी वैसा आनन्द प्राप्त करना है तो तू भी स्वयं को चैतन्यरूप देख और उसी रूप ठहर जा। कहीं बाहर नहीं जाना है, मात्र शरीर के स्तर से चैतन्य के स्तर पर चले आना है। जिस प्रकार शरीर के स्तर पर तू जिनको पड़ौसी समझता है उनके प्रति तुझमें अपनेपने का राग नहीं होता, उसी प्रकार चैतन्य के स्तर पर आते ही स्त्री-पुत्रादिक, धन-सम्पत्ति आदि और शरीर, ये सभी पड़ौसियों के समान ही

दिखाई देने लगेंगे। शरीर और चेतन-स्वभाव दोनों तेरे पास हैं, तू स्वयं ही अनुभव करने वाला है। शरीर को अपने-रूप अनुभव करना तो तुझे आता ही है, शरीर के बजाय किन्तु उसी प्रकार चेतना को अपने-रूप अनुभव करना है। शरीर के स्तर पर तो तुझे पूरा भेद-ज्ञान भी है—दूसरे की चीज को अपनी नहीं मानता। वैसा ही भेद-ज्ञान चेतना के स्तर पर करना है; यह केवल तुझ पर ही निर्भर है। उस भेदज्ञानपूर्वक मात्र स्वयं में रह जाना है, बस परमानन्द को प्राप्त हो जायेगा। आचार्य और आगे कहते हैं कि हम उसी परमानन्द का भोग कर रहे हैं; एक बार हमारी बात केवल एक घड़ी के लिए मानकर समस्त पदार्थों से अलग अपने स्वरूप को, चैतन्यरूप को—जैसा कि 'तू वस्तुतः है—देख ले तो तेरा अनन्तकाल का दुख समाप्त हो जायेगा। जैसा कि तू स्वयं को आज तक देखता आ रहा है—शरीररूप और राग-द्वेषरूप—वैसा तू न कभी था, न है, और न ही कभी हो सकेगा। यह शरीर तो जड़ पदार्थ है, इसकी कोई भी, कैसी भी अवस्था तुझ चैतन्य को प्रभावित नहीं कर सकती, इसके नाश से भी तेरा नाश नहीं हो सकता। इसका तो महत्त्व भी तभी तक है जब तक तू इसमें ठहरा हुआ है, अन्यथा लोग इसको छुएँगे भी नहीं, इसे जला देंगे। इसका कोई महत्त्व नहीं, महत्त्व तो तेरा है, तुझ चैतन्य-तत्त्व का है। अतः चैतन्य का, आत्मा का अनुभवन जरूरी है, बाकी सब मजबूरी है।

आत्म-अनुभव कैसे करें ?

आत्मा को जानने का उपाय

प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिसमय तीन क्रियायें एक साथ हो रही हैं—एक तो शरीर की क्रिया, दूसरे शुभ या अशुभ विकारी परिणाम अर्थात् मन की क्रिया, तथा तीसरी जानन-रूप क्रिया। शरीर की कैसी भी स्थिति हो उसका जानना हो रहा है। यदि शरीर रोगी है तो वहाँ एक तो रोग का होना और दूसरे रोग का जानना दोनों बातें एक साथ हो रही हैं। दो काम एक साथ हो रहे हैं—हाथ का उठना और उसका जानना, रोग का होना और रोगी अवस्था का जानना, नीरोग होना और नीरोगता का जानना। यहाँ पर यह निर्णय करना है कि जिसमें रोगादिक हुए हैं वह मैं हूँ या उसको जानने वाला ? शरीर की अवस्था बदल रही है, जानने वाला इसे जानता है। शरीर बूढ़ा हो रहा है उसको भी जान रहा है, मर रहा है तो उसको भी जान रहा है, परन्तु जो जानने वाला है वह न तो बूढ़ा हो रहा है और न मर रहा है। यहाँ पर यह निर्णय करना है कि मैं तो जानने वाला हूँ जबकि अवस्था बदलने का सम्बन्ध शरीर के साथ है।

जिस प्रकार शरीर की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक अवस्था को जानने वाला उसी समय जानता जा रहा है, उसी प्रकार परिणामों की भी चाहे कोई अवस्था हो उसका जानना भी उसी समय साथ-साथ होता जा रहा है, जैसे क्रोध का होना और उसका जानना। क्रोधादिक कम-ज्यादा हो रहे हैं—क्रोध से मान, मान से माया, माया से लोभ-रूप परिणाम हो जाते हैं—परन्तु जानने वाला सतत, एकरूप से जो कुछ भी परिणमन हो रहा है उस सबको जान रहा है, जानता जा रहा है। वह क्रोध को भी जान रहा है और क्रोध के अभाव को भी जान रहा है; क्रोध के अभाव में उसका अभाव नहीं हो रहा है। उसका काम तो मात्र जानना है।

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि तीन काम एक साथ हो रहे हैं—शरीर-आश्रित क्रिया, विकारी परिणाम और जाननक्रिया। इनमें से

पहले दो काम तो नाशवान हैं जबकि जाननपना त्रिकाल रहने वाला है। स्वप्न आने पर भी जानने वाला उसी समय जान रहा है, तभी तो सवेरे उठकर वह अपने स्वप्न को कह सकता है। आज बड़ी अच्छी नींद आई, इसको भी जानने वाले ने जाना; एक नींद ले रहा था और दूसरा उसको भी जान रहा था।

ये तीनों क्रियायें एक साथ हो रही हैं इस बात का आज तक हमें ज्ञान ही नहीं था। चूंकि जाननक्रिया हमारी पकड़ में नहीं आई, केवल शरीर की क्रियायें एवं मन की क्रियायें अर्थात् शुभ-अशुभ भाव ही पकड़ में आ रहे हैं इसलिए शरीर की क्रिया और राग-द्वेषरूप परिणामों को ही हमने अपना होना, अपना अस्तित्व समझा। स्वयं को इन्हीं का कर्त्ता माना। इनके अतिरिक्त कोई जाननक्रिया भी हो रही है और उसका स्तर इनके स्तर से भिन्न है, यह बात कभी समझ में नहीं आई। फल यह हुआ कि धर्म के लिए हमने एक ओर तो परिणामों को बदलने की चेष्टा की—अशुभ से शुभरूप बदलने का प्रयत्न किया, और दूसरी ओर शरीराश्रित क्रिया को अशुभ से शुभरूप बदलना चाहा। यदि शरीर और मन की ये क्रियायें बदल गईं तो हमने इस बदलाव को ही धर्म मान लिया और अहंकार किया कि मैंने ऐसा कर लिया। इस बात को तनिक भी न समझा कि ये दोनों ही पर-आश्रित क्रियायें हैं, आत्मा की अपनी स्वाभाविक क्रिया नहीं है, अतः इन पराश्रित क्रियाओं के बदलने मात्र से धर्म होना कदापि सम्भव नहीं; धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, उसका सम्बन्ध तो उस तीसरी, स्वाभाविक क्रिया से है, जाननक्रिया से है। यह नासमझी, यह गलती उस जाननेवाले की ही है कि उसने अपनी स्वाभाविक क्रिया को न पहचान कर, विकारी परिणामों और शरीराश्रित क्रियाओं में ही अपनापना मान रखा है, यही अहंकार है, यही मिथ्यात्व है, यही संसार है, जो तब तक नहीं मिट सकेगा जब तक यह जीव अपनी स्वाभाविक क्रिया को नहीं जानेगा।

जाननक्रिया : जीव की स्वयं की अपनी

धर्म के मार्ग पर शुरुआत के लिए जरूरी है कि हम यह निर्णय करें कि जाननक्रिया तो मेरे ज्ञाता स्वभाव से उठ रही है, वह मेरी स्वयं की क्रिया है

जबकि शेष दो क्रियायें कर्म के सम्बन्ध से हो रही हैं—उसी प्रकार जैसे कि पहले दिये गये चीनी के उदाहरण में चीनी का गर्मपना पर के, अग्नि के, सम्बन्ध से था। अभी तक तो इन कर्मकृत दो प्रकार की क्रियाओं में ही अपनापना माना था, अपना होना मान रखा था, परन्तु अब हमारा अपनापना उस जानने वाले में आना चाहिए। जैसा अपनापना, जैसा एकत्व शरीराश्रित क्रिया और विकारी परिणामों में है, वैसा अपनापना, वैसा एकत्व, उनके बजाय जाननक्रिया में आना चाहिए। जिस किसी के ऐसा घटित हो जाता है उसे वास्तव में ऐसा अनुभव होता है कि चलते हुए भी मैं चलने वाला नहीं, चलने की क्रिया का सिर्फ जानने वाला हूँ; बोलते हुए भी मैं बोलने वाला नहीं, बल्कि बोलने वाले को मात्र जानने वाला हूँ; मरते हुए भी मैं मरने वाला नहीं, अपितु मरण को केवल जानने वाला हूँ। इसी प्रकार, क्रोध होते हुए भी मैं क्रोधरूप नहीं; बल्कि उसका मात्र जानने वाला हूँ; लोभादिक होते हुए भी लोभादि का करने वाला नहीं, मात्र जानने वाला हूँ; दया-करुणा आदि परिणाम होते हुए भी मैं न तो उन-रूप हूँ, न उनका करने वाला हूँ, अपितु उनका जानने वाला हूँ। मैं तो जानने के सिवाय और कुछ कर ही नहीं सकता—यही साक्षीभाव है। इस प्रकार इस जीव के 'स्व' और 'पर' के बीच भेदविज्ञान पैदा होगा तब यह शरीर में रहते हुए भी शरीर से अलग हो जाएगा, संसार में रहते हुए भी संसार उसके भीतर नहीं रहेगा।

जाननक्रिया को कैसे पकड़ें ?

पहले इन तीनों क्रियाओं को एक-दूसरे से भिन्न जानना और फिर मात्र जाननपने में अपनापना-एकत्व-तादात्म्य स्थापित करना जरूरी है। यहाँ जाननपने के सम्बन्ध में यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि जो जानने का कार्य हो रहा है, वह कर्म-सापेक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान का है—जो ज्यादा-कम होता है, जिसमें इन्द्रियों की, मन की सहायता की जरूरत है, जो सविचार-सविकल्प है, जो ज्ञान-विशेष है—इसको नहीं पकड़ना है। अपितु, इसके माध्यम से उस स्रोत को पकड़ना है जहाँ से यह (ज्ञान-विशेष) उठ रहा है—जो ज्ञान-सामान्य है, जो ज्ञान-पिण्ड है, जो निर्विचार-निर्विकल्प है, जिससे यह जानने की लहर उठी है। जैसे सूर्य का प्रकाश आ रहा है; यद्यपि किरणों में प्रकाशत्व है, तथापि किरणों को नहीं पकड़ना है। किरणों के

माध्यम से उस सूर्य तक पहुँचना है जो प्रकाश का अखण्ड पिण्ड है। किरणें तो अंश हैं जबकि सूर्य अंशी है। उसी प्रकार क्षायोपशमिक ज्ञान तो ज्ञान की एक पर्याय/अवस्था मात्र है, इसमें हीनाधिकता है, परिवर्तनशीलता है, कर्म का सम्बन्ध है—इसको नहीं पकड़ना है, बल्कि इसके माध्यम से ज्ञान के उस अखण्ड-पिण्ड में, ज्ञान-सामान्य में, अपना सर्वस्व स्थापित करना है जहाँ से यह ज्ञान-विशेषरूपी लहर उठी है; जो त्रिकाल एक-रूप रहने वाला है, जो कर्म-निरपेक्ष है। ज्ञान की पर्याय अंश है, अंशी नहीं; अंशी तो ज्ञान-सामान्य है; अंशी कर्म-निरपेक्ष पारिणामिक भाव-रूप है जबकि अंश है कर्म-सापेक्ष क्षायोपशमिक भाव-रूप। सामान्य को मुख्य करना है, और विशेष को गौण करके स्वयं को सामान्य-रूप अनुभव करना है।

उपर्युक्त तीनों क्रियाओं को अलग-अलग जानना तो अपेक्षाकृत आसान है, परन्तु उस जाननेपने में, ज्ञातापने में अपनापना स्थापित करना मुश्किल है। फिर भी इसके लिए उपाय है—पाँच-सात मिनट के लिए अलग बैठकर हम यह निश्चित करें कि शरीर की जो भी क्रिया होगी वह मेरी जानकारी में होगी, आँखों की टिमकार भी मेरी जानकारी में होगी, बेहोशी में नहीं। शरीर की क्रिया का कर्त्ता न बनकर उसका मात्र जानने वाला बने रहना है। और यदि दो मिनट भी जानने वाले पर जोर देते हुए शरीर की क्रिया को मात्र देखने लगेंगे तो पायेंगे कि जानने वाला शरीर से अलग है। इसी प्रकार पाँच-सात मिनट के लिए बैठकर मन में उठने वाले विकल्पों का कर्त्ता न बनकर मात्र जानने वाला, मात्र ज्ञाता बने रहें। मन में जो कुछ भी भाव चल रहे हों, जो कुछ भी विचार उठ रहे हों, उनको देखते जायें, देखते जायें—चाहे शुभ विचार हों या अशुभ, उनका कोई भी विरोध न करें कि ऐसा क्यों उठा और ऐसा क्यों नहीं उठा। हमारा काम है मात्र जानना, उस जाननेवाले पर जोर देते जायें। हम उन विचारों के न तो करनेवाले हैं, न रोकने वाले, हम तो उन्हें मात्र जानने वाले हैं, बस अपना काम करते जायें। हम मन नहीं, हम देह नहीं, जरा भीतर सरक जायें और देखते रहें। मन को कहें—‘जहाँ जाना हो जा, जो विचार-विकल्प उठाने हों उठा, हम तो बैठकर तुझे देखेंगे।’ लोग कहते हैं कि मन हमारे वश में नहीं है, परन्तु यदि हम केवल दो मिनट के लिए मन को न रोकें—जहाँ वह जाये उसे जाने दें, बस इतना ध्यान रहे कि

उसका कहीं भी जाना हमारी जानकारी में हो, बेहोशी में नहीं—तो हम पायेंगे कि यह मन कहीं भी नहीं जा रहा है, यह तो अब सरकता ही नहीं।

यदि हमने धैर्यपूर्वक अभ्यास चालू रखा, देखने-जानने वाले पर जोर देते गये, तो पायेंगे कि कभी-कभी कुछ होने लगता है, मानो बरसात की फुहार का एक झोंका-सा आया हो—एक क्षण के लिए सब शून्य हो जाता है, निर्विचार हो जाता है, निर्विकार हो जाता है, एक अभूतपूर्व शान्ति छा जाती है। यदि ऐसा हुआ तो चाभी मिल गई कि विकल्प-रहित हुआ जा सकता है। और, जो एक क्षण के लिए हो सकता है वह एक मिनट के लिए, एक घन्टे के लिए, एक दिन के लिए व हमेशा के लिए क्यों नहीं ? पहले बूँद-बूँद बरसेगा, फिर एक दिन तूफान आ जाएगा, बाढ़ आ जाएगी। तब वह घटित होगा जो आज तक कभी नहीं हुआ था। मालूम होगा कि भीतर कोई जगा हुआ है; बाहर में सोये हुए भी वह जगा हुआ मालूम देगा, चलते हुए भी अनचला मालूम देगा, बोलते हुए भी अनबोला प्रतीत होगा। बाहर में सारी क्रियायें होंगी परन्तु 'उसमें' कुछ भी होता न मालूम होगा। जैसे ही हम जगे, सावधान हुए, मात्र जानने वाला बने, वैसे ही पायेंगे कि मन गया और शान्ति आई। हमारा संसार हमारे मन में है। जब तक मन के विचारों में हमें रस आ रहा है उनमें हमने अपनापना मान रखा है, तब तक ही उन्हें बल मिल रहा है। जैसे ही हम विचारों को स्वयं से भिन्न-देखेंगे, वैसे ही हम उस ज्ञाताके, आत्मा के सम्मुख हो जायेंगे, सारे विचार-विकल्प गायब हो जायेंगे, सब शून्य हो जाएगा और मात्र एक जानने वाला, ज्ञाता रह जाएगा—तभी अपना दर्शन, आत्म-दर्शन होगा, तभी राग-द्वेष और शरीरादि से भिन्न अपने स्वभाव का अनुभव होगा।

स्वानुभव

स्वानुभव के लिये सबसे पहले बुद्धि के स्तर पर अपने चैतन्य-स्वभाव को शरीर से, शरीर-संबंधी पदार्थों—स्त्री-पुत्रादिक और धन-सम्पत्ति आदि—से, शुभ-अशुभ विकारी भावों-विचारों-विकल्पों से, और मोहादिक आठ प्रकार के कर्मों से भिन्न, अलग, न्यारा निर्णय करना है। जिस प्रकार एक व्यापारी अपने खाता-पत्र को जाँच कर, जोड़-घटा करके, बाकी निकालता है; उस

बाकी को ही अपनी पूँजी नहीं मान लेता, बल्कि दूसरों का जो रुपया-पैसा अन्य किसी प्रयोजन से इसके पास आया हुआ है, उसको बाद देकर जो शेष/बैलेंस बचता है, उसे ही यह अपनी पूँजी समझता है। इसी प्रकार, स्वानुभव का साधक भी उपर्युक्त उन शरीरादिक समस्त पर-संयोगों को बाद देकर जो ज्ञान-दर्शन का पिण्ड मात्र बचा उसी में अपनापना स्थापित करता है; निर्णय करता है कि जो शरीरादिक पर-संयोग हैं वे अपने साथ होते हुए भी अपने नहीं हैं। यहाँ तक तो हुई कागजी कार्यवाही अथवा बुद्धि के स्तर का निर्णय। पुनश्च, जिस प्रकार वह व्यापारी उस बैलेंस का तिजोरी में रखी हुई शेष धन-राशि से मिलान करता है और उसको ही अपनी पूँजी मानता है, बाकी को नहीं। उसी प्रकार, साधक भी अपने ज्ञान में समस्त पर-संयोगों का निषेध करके, इन्द्रियों के द्वारा अपना जो ज्ञान-उपयोग बाहर जा रहा है उसे वहाँ से हटा कर—अपनी आत्म-शक्ति को शरीर-इन्द्रिय-विचार-विकल्पों से हटा कर—उसको ज्ञान के अखण्ड-पिण्ड की ओर उन्मुख करता है, उसके साथ अभेद-एकत्व स्थापित करता है—अपनी सत्ता को मात्र अपने अस्तित्व में अनुभव करता है। अथवा, दूसरे शब्दों में, अपने ज्ञान की पर्याय में अपने चैतन्य-स्वभाव को ज्ञेय बना कर उसे अपने-रूप देखता है। यही स्वानुभव, आत्म-अनुभव, आत्म-दर्शन अथवा निजसत्तावलोकन है।

निचली भूमिका में स्थित साधक के आत्म-अनुभव के दौरान स्वभाव का स्पर्श मात्र ही हो पाता है। परन्तु, स्पर्श होते ही जो बात बनती है वह हमारी पकड़ में आती है—सब जगत मिट जाता है, शरीर भूल जाता है, मन भूल जाता है, किन्तु फिर भी चैतन्य का दीपक भीतर जलता रहता है। शरीर आपको सामने पड़ा हुआ अलग दिखाई देगा। अभ्यासी साधक के कभी-कभी ऐसा अनुभव अपने प्रयास के बिना भी घटित हो जाता है, अचानक हम शरीर से अलग हो जाते हैं—शरीर अलग दिखाई देने लगता है। न कोई विकल्प रह जाता है, न कोई चिन्ता। ऐसा लगता है कि अब यह चेतना शरीर से अलग ही रहेगी। ऐसी घटना समाप्त होने पर भी दिन भर उसका असर बना रहता है। ऐसी विरक्ति बनती है जैसी पहले कभी नहीं हुई। फिर शरीर का जन्म इसका जन्म नहीं रहता, और न शरीर की मृत्यु इसकी मृत्यु रह जाती है; मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसने मृत्यु को प्रत्यक्ष

जो देख लिया है—जो मृत्यु में घटता है वह आज साक्षात् हो गया है। यह दशा ज्यादा देर नहीं रहती। यदि जल्दी-जल्दी अनुभव होता रहे तो विरक्ति बनी रहती है, परन्तु यदि बहुत दिनों तक न हो तो पुरानी याद के तुल्य ही रह जाती है।

आगमज्ञान और आत्मज्ञान

आत्मा के बारे में आज तक इसने जो जाना था, वह आगम के द्वारा, शास्त्रों के द्वारा जाना था—दूसरे से जाना था। परन्तु अब इसने स्वयं चख कर जाना है, अपने अनुभव से जाना है। जीवनधारा में बदलाव मात्र शास्त्रों के द्वारा जानकारी प्राप्त कर लेने से कभी सम्भव नहीं है। शास्त्र से जानने वाले तो लाखों होते हैं परन्तु उनके जीवन में बदलाव नहीं आता, हाँ इतना अवश्य है कि अंतरंग बदलाव के बिना भी वे कोशिश करके बाहरी बदलाव ला सकते हैं। परन्तु ऐसा बदलाव नकली होता है, वास्तविक नहीं। वास्तविकता तो तभी आती है जब वह परिवर्तन निज-आत्मा के आस्वादन से उद्भूत हो, स्वतः आए।

आत्मा के बारे में जानना और आत्मा को जानना—ये दो भिन्न-भिन्न कार्य हैं; इन दोनों में एक मौलिक अन्तर है। पहला कार्य तो शास्त्रों के द्वारा अथवा उनके जानकार पुरुषों के द्वारा हो सकता है, परन्तु दूसरा कार्य—स्वयं को जानना—तो हमें स्वयं ही करना होगा। जैसे, किसी व्यक्ति के बारे में हमने पढ़ कर, दूसरे व्यक्तियों से उसके बारे में सुन कर, बहुत कुछ जानकारी हासिल कर ली, परन्तु उस व्यक्ति को जानना तो तभी संभव होगा जब हमें उसका साक्षात्कार हो। इसी प्रकार, आत्मा को जानना भी आत्मा के साक्षात्कार से ही होता है, केवल शास्त्रों से जानकारीयाँ इकट्ठा करने से नहीं होता। अथवा, उदाहरण के लिए मान लीजिए कि किसी व्यक्ति को एक नक्शा मिला जिसमें किसी स्थल पर गढ़े एक खजाने का विवरण है, और उसने उस नक्शे का अच्छी तरह अध्ययन करके नक्शे को समझ भी लिया। परन्तु, इतना काम करने मात्र से उसे धन की प्राप्ति नहीं हो सकेगी; धन की प्राप्ति तो उसे तभी होगी जब वह नक्शे के द्वारा इंगित किये गये स्थल पर पहुँच कर खोदना शुरू करे और तब तक खोदता चला

जाए जब तक कि वह गढ़े हुए धन तक न पहुँच जाए। इसी प्रकार हमें भी शास्त्र-रूपी नक्शे के द्वारा तत्त्व को समझ कर अपने अंतरंग में—जहाँ वह तत्त्व है वहाँ—उस तत्त्व की खोज करनी है, और तब तक खोजते चले जाना है जब तक कि उस निज-तत्त्व की प्राप्ति न हो जाए। शास्त्रों से हासिल की गई जानकारी को यदि आत्मदर्शन/आत्म-अनुभव का साधन न बनाया जाए तब ऐसी जानकारी से तो अहंकार की ही पुष्टि होती है—एक किताबी (Theoretical) ज्ञान है जबकि दूसरा अनुभव-जनित ज्ञान। अतः हमें आगम से जानना है और अपने में देखना है।

आत्म-अनुभव होने पर ही इसे वस्तुतः समझ में आता है कि मैं तो जानने वाला हूँ, सिर्फ अपनी जाननक्रिया का मालिक हूँ—शुभ भावों को भी मात्र जानता हूँ, अशुभ भावों को भी मात्र जानता हूँ; इन दोनों का ही मैं करने वाला नहीं हूँ, ये तो कर्म-जनित हैं। जैसे कि एक त्रिकोण (Triangle) है जिसमें ऊपरी सिरे पर, शीर्ष पर, ज्ञान है, तथा निचले दो सिरों में से एक पर शुभ भाव और दूसरे पर अशुभ भाव हैं। ज्ञान अथवा ज्ञाता शुभ-अशुभ दोनों भावों से भिन्न स्तर पर है, ऊपर का स्तर 'स्व' का है और निचला स्तर 'पर' का है। ज्ञान उन शुभ व अशुभ भावों को जानता तो है, परन्तु उनसे भिन्न है और उनका कर्ता भी नहीं है। जब यह इस प्रकार देखता है तो शुभ-अशुभ भावों के होते रहने पर भी उनका अहंकार नहीं रह जाता; चाहे दया के या सत्यभाषण के परिणाम हों अथवा असत्यभाषण आदि के, परन्तु उनमें अपनापना, अहम्पना नहीं रहता—अहम् मर जाता है, और जिसका अहम् चला गया उसका संसार ही चला जाता है। संसार में जो रस है वह अहम्पने का और मेरेपने का ही तो है, जिसका अहम्पना और मेरापना चला गया उसके लिए संसार में कोई रस रहा ही नहीं। इसी प्रकार शरीर में भी इसके कोई अहम्पना नहीं रहता; यह भलीभाँति समझता है कि शरीर की नाना प्रकार जो अवस्थायें हो रही हैं वे सब कर्मजनित हैं, मैं तो उनका मात्र जानने वाला हूँ, उन-रूप नहीं। जिस प्रकार किसी दूसरे के शरीर को मैं जानता हूँ, उसका कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, उसी प्रकार जिस शरीर में मैं बैठा हूँ, उसे भी पर-रूप से ही जान रहा हूँ, उसका भी कर्ता या भोक्ता मैं नहीं—इस शरीर और दूसरे शरीर, दोनों के परपने में कोई अन्तर

नहीं है। अब कर्त्तापना (Doing) तो समाप्त हो गया, मात्र होना (Being) रह गया; अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ भाव और शरीर की अवस्थायें हो रही हैं, मैं उनका जानने वाला तो हूँ, करने वाला नहीं।

जब आत्मा इस प्रकार शुभ-अशुभ भावों अर्थात् राग-द्वेष तथा शरीर से भिन्न स्वयं को ज्ञानरूप देखता है तो इसके जीवन में सहज-स्वाभाविकरूप से परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इतना जरूर है कि किसी के जीवन में वह परिवर्तन अपेक्षाकृत तेजी से आए जबकि किसी दूसरे के जीवन में धीमे-धीमे आए। परिवर्तन की गति व्यक्ति-विशेष पर निर्भर कर सकती है परन्तु परिवर्तन अवश्य आएगा।

आत्मज्ञान होने के बाद राग-द्वेष की स्थिति

आत्म-अनुभव होने पर भी, ज्ञान-स्वभाव में अपनापना स्थापित होने पर भी, अभी आत्मबल की इतनी कमी है कि उस ज्ञान-स्वभाव में ठहरना चाह कर भी ठहर नहीं पाता है। इस स्थिति का कारण क्या है ? यह कैसी विवशता है ? इसे आत्मबल की कमी कह सकते हैं, राग की तीव्रता कह सकते हैं, अथवा पूर्व संस्कारों का, कर्मों का, जोर कह सकते हैं। यद्यपि श्रद्धा में सही वस्तु-तत्त्व आ गया है, तथापि कार्यरूप परिणति नहीं हो पा रही है। शरीर में अपनापना तो नहीं रहा परन्तु शरीर में स्थिति है; राग-द्वेष में अपनापना तो नहीं रहा, परन्तु राग-द्वेषरूप भाव अभी भी है। जैसे, कुम्हार ने चाक से डंडा तो हटा लिया परन्तु चाक अभी तक चल रहा है। अथवा पेड़ को तो काट डाला गया परन्तु पत्ते अभी हरे हैं। बच्चे का पालन तो हो रहा है; पहले माँ बन कर था, अब धाय की तरह है। घर में तो रह रहा है परन्तु अब घर नहीं है, धर्मशाला है। व्यापार तो हो रहा है; पहले मालिक बन कर था, अब ट्रस्टी बन कर है। चीजें तो अब भी हैं किन्तु स्वामित्व अब नहीं रहा।

चूँकि पूर्व संस्कार उसे स्वभाव में नहीं ठहरने दे रहे हैं इसलिए उन्हें तोड़ने के लिए वह नये संस्कार पैदा करता है। अभी तक शरीर से प्रति समय एकत्व की भावना भा करके इसने जो संस्कार इकट्ठे किये थे वे शरीर के प्रति अन्यत्व की भावना के बल से ही मिट सकते हैं, अतः अब यह उसी का उपाय करता है। अब तक रागादि और शरीरादि का कर्त्ता बनता था, अब

उनके रहते हुए भी उनका ज्ञाता हो गया है—कर्तृत्व अथवा अहंपना समाप्त हो गया है। कल तक शरीर के स्तर पर रहते हुए मानता था कि :

“मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरो धन गृह गोधन प्रभाव।

मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।”

परन्तु आज आत्मा के स्तर पर रहकर यह पाता है कि मैं एक, अकेला, अनन्त गुणों का पिण्ड, चैतन्य-तत्त्व हूँ, मेरा न तो जन्म है और न मरण, न मैं मनुष्य-तिर्यच-देव-नारकी हूँ और न ही स्त्री-पुरुष-नपुंसक, न मैं धनिक-निर्धन, मूर्ख-बुद्धिमान आदि हूँ और न परपदार्थों के संयोग-वियोग मुझे सुखी-दुखी कर सकते हैं।

आत्मदर्शन के साथ होने वाली सम्यक् धारणाएँ

जब इस प्रकार अपने चैतन्य स्वभाव का अनुभवन करता है तब :

- (१) अहंकार पैदा होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि अहंकार का तो आधार ही शरीरादि में, पुण्य-पाप के फलरूप परपदार्थों में, और शुभ-अशुभ भावों में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है।

त्याग और ग्रहण, गृहस्थ-मुनिपना, गरीब-अमीरपना, मूर्ख-विद्वानपना, रोगी-नीरोगीपना, मनुष्य-पशुपना आदि सभी चूँकि ‘परिधि’ के हिस्से हैं और अब इसका सर्वस्व ‘केन्द्र’ पर है—‘वह’ में है—अतः पर्याय में अहंबुद्धि कैसे हो सकती है ?

- (२) चेतना के स्तर पर, केन्द्र पर, यह ज्ञान-दर्शन के अतिरिक्त कुछ कर ही नहीं सकता। जो सुखी-दुखी करने के भाव होते हैं वे सब परिधि पर हैं—‘यह’ के हिस्से हैं—विकारी परिणाम हैं, अतः पर को सुखी-दुखी करने का मिथ्या अहंकार नहीं होता।

- (३) शरीर के स्तर पर तो कोई इष्ट है और कोई अनिष्ट। परन्तु चेतना के स्तर पर न कोई इष्ट है, न कोई अनिष्ट। अतः राग-द्वेष करने का कोई कारण ही नहीं रह जाता क्योंकि इष्ट-अनिष्टपना वस्तु में नहीं है। वस्तु में इष्ट-अनिष्टपना दिखाई देना, यह तो हमारा

दृष्टिदोष है। जैसे, स्त्री न तो स्वर्ग है, और न ही नरक। अगर वह नरक दिखाई देती है तब भी हमारा दृष्टिदोष है, और अगर वह स्वर्ग दिखाई दे तब भी दृष्टिदोष है। स्त्री अपने से भिन्न एक जीवात्मा दिखाई दे, यही सही दृष्टि है।

कोई वस्तु न अच्छी है, न बुरी है, वस्तु तो वस्तुरूप है; अच्छा-बुरापना वस्तु में नहीं है, अपितु हमारे भीतर से आने वाला विकार है। जैसे कि पीलिये के रोगी को दूध पीला दिखाई देता है; वस्तुतः दूध पीला नहीं है, पीला दिखाई देना तो एक दृष्टिविकार है। इसी प्रकार, यदि वस्तु हमें अच्छी-बुरी लग रही है तो समझना चाहिये कि हमारे भीतर का विकार अभी मिटा नहीं है। हमें वस्तु को ठीक नहीं करना है, अपितु अपने विकारों को मिटाना है।

- (४) सुख-दुख या तो दूसरों के कारण से होता है या पुण्य-पाप से होता है, पहले तो ऐसा मानता था। अब समझ में आया कि दुख तो अपनी कषाय से होता है और सुख कषाय के अभाव से, अतः सुखी होने के लिए कषाय के अभाव का उपाय करता है।

इस जीव को कोई अन्य जीव न तो दुख दे सकता है और न ही सुख—मैं दूसरे को नहीं दे सकता, दूसरा मुझे नहीं दे सकता। परन्तु हम लोग एक-दूसरे से दुख-सुख ले लेते हैं—दूसरे को देखकर, उसकी चाल-ढाल से, उसके वचन-व्यवहार से जब हम दुख-सुख ले लेते हैं तो लौकिक भाषा में यह कहा जाता है कि उसने दुख-सुख दिया। वस्तुतः उसने नहीं दिया, हमने लिया है। इसकी वजह हम हैं दूसरा नहीं है। यह बात समझ में आने से इस जीव के दूसरे को दुखी-सुखी करने का अहंकार पैदा नहीं होता और अपने दुख-सुख के लिये यह दूसरे को जिम्मेवार नहीं ठहराता।

- (५) पहले मानता था कि कषाय दूसरों की वजह से होती है या कर्मोदय के कारण होती है। अब समझ में आया कि कषाय होने में समूची जिम्मेदारी मेरी अपनी है। कोई पर वस्तु कषाय नहीं कराती, और न ही पर की वजह से कषाय होती है, बल्कि जब पर का अवलम्बन

लेकर मैं स्वयं ही रागद्वेष रूप परिणमन करता हूँ तो ऐसा कह दिया जाता है कि पर ने कषाय कराई। पर न तो कोई कार्य करता है, न कार्य कराता है, अपितु हम ही पर का अवलम्बन लेकर कार्य करते हैं।

सामान्यतः लोग ऐसा मानते हैं कि दूसरे ने गाली निकाल कर हमें क्रोध करा दिया, दूसरे ने हमारा मन चला दिया, इत्यादि; परन्तु ऐसा नहीं है। बल्कि ऐसा है कि कुँए में खाली बाल्टी हमने डाली, उस बाल्टी ने कुँए के पानी में कोई बदलाव तो किया नहीं, मैला पानी कुँए में भरा था सो उसने मैला पानी ही बाहर ला दिया। यदि कुँए में साफ पानी होता तो वह साफ पानी बाहर ला देती, और यदि कुँए में पानी न होता तो बाल्टी खाली ही वापिस आ जाती। बाल्टी ने कुँए के भीतर कुछ पैदा नहीं किया है। दूसरा व्यक्ति हमारे लिये बाल्टी के समान है। उदाहरण में तो हम बाल्टी का गुण-दोष न समझकर, कुँए का पानी मैला या साफ है, यही समझते हैं। परन्तु, यहाँ गाली देने वाले का दोष देखते हैं, उसको ठीक करना चाहते हैं। जब गाली का अवलम्बन हमने लिया, उसको अनिष्टरूप हमने माना तब भीतर में पड़े विकार का क्रोधरूप परिणमन हुआ, अतः गलती हमारी है। अपनी कमी/गलती को देख कर हमें खुद को ठीक करना है।

(६) बाहरी विपरीत वातावरण से बचता है, वह इसलिये नहीं कि वे मेरा बुरा कर देंगे, बल्कि इसलिये कि वैसे वातावरण में मैं अपनी कमजोरी की वजह से फिसल जाता हूँ। दोष उस वातावरण का नहीं है, अपनी कमजोरी का है। उस वातावरण को बुरा मान कर द्वेष नहीं करता; अपितु अपनी कमी को दूर करना चाहता है इसलिये उससे अपना बचाव करता है, उसी प्रकार जैसे कि बुखार का रोगी घी का सेवन नहीं करता।

(७) चेतना के स्तर पर इस जीव का न तो जन्म है और न ही मरण; इसलिये दूसरा मेरा मरण कर दे अथवा मैं दूसरे का मरण कर दूँ, यह प्रश्न ही नहीं उठता। शरीर के स्तर पर शरीर का रहना या न

रहना आयुर्कर्म के आधीन है, न कोई आयुर्कर्म की अवधि को घटा सकता है और न कोई बढ़ा सकता है। परन्तु, जीव दूसरे के मारने-बचाने आदि के जैसे भाव करता है उनके अनुसार कर्म का बंध अवश्य करता है और उनका फल अवश्य पाता है।

- (८) राग से बंध होता है, अशुभ राग से पाप का और शुभ राग से पुण्य का—एक लोहे की बेड़ी है और दूसरी सोने की बेड़ी। शुद्ध भावों से कर्मों का, रागद्वेष का नाश होता है, वही धर्म है—इस प्रकार की सम्यक् मान्यता रखता है।
- (९) ऐसा मानता है कि व्यवहार-धर्म बंध-मार्ग है, परन्तु बंध-मार्ग होने के साथ-ही-साथ वह आत्मोन्नति के मार्ग में निचली भूमिका में यथापदवी प्रयोजनभूत भी है, परन्तु उपादेय नहीं है।
- (१०) नरक के डर से अथवा स्वर्गादि के लोभ से होने वाला कार्य धर्म-कार्य नहीं हो सकता। आत्म-स्वभाव में लग जाने/ठहर जाने की भावना से प्रेरित कार्य को ही व्यवहार धर्म-कार्य कहा जाता है।
- (११) कषाय के नाश का उपाय अपने ज्ञान-स्वभाव का अनुभवन करना है। जितना कषाय का अभाव होता है उतना परमात्मपने के नजदीक होता जाता है। और जब कषाय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब परमात्मा हो जाता है। यही धर्म है, यही वस्तुस्वभाव है।
- (१२) मेरे में परमात्मा होने की शक्ति है और अपने सही पुरुषार्थ से मैं उस शक्ति को व्यक्त कर सकता हूँ, ऐसी अविकल श्रद्धा होती है।
- (१३) भगवान् कर्त्ता नहीं हैं। वे वीतराग और सर्वज्ञ हैं—न किसी को सुखी कर सकते हैं, न दुखी कर सकते हैं। वे तो अपने स्वभाव में लीन हैं, उनको देखकर हम भी अपने स्वभाव को याद कर सकते हैं; उनके जैसा होने की भावना एवं रुचि को मजबूत करके और उनके बताये हुए मार्ग पर चल कर निज में परमात्मा बनने का उपाय कर सकते हैं।

यह सब निर्णय—जिसका ऊपर वर्णन किया है—चौथे गुणस्थान में होता है, यहीं से मोक्षमार्ग या धर्म-मार्ग की शुरूआत होती है। आगे भी इस पर और विचार करेंगे।

जीवात्मा की परमात्मा तक यात्रा

जैसा कि ऊपर विचार कर आये हैं, धर्म के लिये—निज ज्ञान-आनन्द-स्वभाव की प्राप्ति के लिये—कषाय का नाश करना जरूरी है। कषाय/राग-द्वेष की उत्पत्ति का कारण अपनी अज्ञानता है, शरीर और कर्मफल में अपनेपने की मिथ्या मान्यता है। अपने स्वरूप को यह जीव जाने तो इसका शरीरादि में अपनापना छूटे, शरीरादि में अपनापना छूटे तो कषाय पैदा होने का मूल कारण दूर हो, और कषाय पैदा होने का मूल कारण दूर हो तो उसके बाद, राग-द्वेष के जो पूर्व संस्कार शेष रह गए हैं उनके क्रमशः अभाव का उपाय बने, और इस प्रकार जितनी-जितनी कषाय/राग-द्वेष घटता जाये उतनी-उतनी शुद्धता आती जाये।

चौदह गुणस्थान

कषाय के माप के लिए चौदह गुणस्थानों का निरूपण आगम में किया गया है। जैसे थर्मामीटर के द्वारा बुखार का माप किया जाता है, वैसे ही गुणस्थानों के द्वारा मोहरूपी बुखार का माप होता है। जैसे-जैसे कषाय में कमी होती है, बाह्य में परावलम्बन घटता है और अंतरंग में स्वरूप से निकटता बढ़ती है—आत्मा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होती है।

पहला गुणस्थान

जब तक यह जीव कर्म और कर्मफल में—शरीर तथा राग-द्वेष में—अपनापना स्थापित किये हुए है तब तक यह पहले गुणस्थान में ही स्थित है। यहाँ पर इसके एक शरीर के प्रति ही राग नहीं है, परन्तु संभावित सभी शरीरों के प्रति अपनेपने का राग है। इसी प्रकार, शरीर-संबंधी एक वस्तु के प्रति ही राग-द्वेष नहीं है बल्कि संभावित सभी वस्तुओं के प्रति इसके अभिप्राय में राग-द्वेष पड़ा है। शरीर के होने से इसका होना है और शरीर के नाश से इसका मरण है। इसका सुख भी पर से, बाहरी पदार्थों से है

और इसका दुख भी पर से, बाहर से है। इसका सम्पूर्ण अस्तित्व बाहर से जुड़ा है, बाहर की ओर उन्मुख है, अतः इसे बहिरात्मा कहा है।

यहाँ से आगे की ओर यात्रा की शुरुआत तभी सम्भव है जब यह जीव वस्तुस्वरूप का, स्व-पर के भेद का निर्णय करने की दिशा में उद्यम करता है, यह निश्चय करता है कि कषाय दुखरूप है, इसका अभाव करना है, निज स्वभाव को प्राप्त करना है; और इनके हेतु खोज करता है कि स्वभाव को प्राप्त करने वाला, कषाय का नाश करने वाला कौन है ? अब इसके लिये वही परमात्म-देव है जो कषाय से रहित है—जिसने स्वभाव को प्राप्त किया है; वही पूजने योग्य है; वही साध्य है। वही शास्त्र है जो कषाय के नाश और स्वभाव की प्राप्ति का उपदेश दे; और वे ही गुरु हैं जो इस कार्य में लगे हुए हैं। इनके अतिरिक्त किन्हीं ऐसे तथाकथित देव, शास्त्र, गुरु की संगति, पूजा आदि नहीं करता जिनसे कषाय की पुष्टि होती हो। इसके साथ ही बहिरंग में जीव-हिसा और अंतरंग में तीव्र कषाय, इन दोनों के अवलम्बन-रूप जो माँस, मदिरादिक हैं, उनका त्याग करता है।

इस प्रकार सही देव-शास्त्र-गुरु का निर्णय करता है और उनके अवलम्बन से अपने स्वरूप को जानने का उद्यम करता है। यह पुरुषार्थ कोई भी व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा, यहाँ तक कि मन-सहित पशु-पक्षी भी—कर सकता है।

चौथा गुणस्थान

सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से अपने स्वरूप को स्पर्श करने का, अनुभव करने का, पुरुषार्थ करते हुए जब यह जीव निर्णय करता है कि मैं शरीर से भिन्न एक अकेला चेतन हूँ, और मेरी पर्याय में होने वाले रागादि भाव, जिनके कारण मैं दुखी हूँ, मेरे स्वभाव नहीं अपितु विकारी भाव हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं—जब यह शरीर और रागादि से भिन्न अपने ज्ञाता-स्वरूप को देख पाता है—तो पहले से चौथे, अविरत सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान में आता है। रागादि से भिन्न अपनी सत्ता का अब यद्यपि निर्णय हो गया है तथापि राग-द्वेष का नाश नहीं कर पा रहा है।

अब यह अंतरात्मा है; इसका सुख-दुख, भला-बुरा पर से नहीं अपितु अपने से ही है। अब चेतना के बाहर इसका अपना कुछ नहीं है। अब शरीर है परन्तु उसमें अपनापना नहीं है; रागादि भाव हैं परन्तु उनको कर्मजनित, विकारी भाव जानकर उनके नाश करने का उपाय करता है। पहले समझता था कि इनके होने में मेरा कोई दोष नहीं, ये तो कर्म की वजह से हुए हैं अथवा किसी दूसरे ने कराए हैं। परन्तु अब समझता है कि मेरे पुरुषार्थ की कमी से हो रहे हैं, इसलिये मेरी वजह से हुए हैं, और पुरुषार्थ बढ़ाकर ही मैं इनका नाश कर सकता हूँ। बाहरी सामग्री का संयोग-वियोग पुण्य-पाप के उदय से हो रहा है, उसमें मैं जितना जुड़ूंगा उतना ही राग होगा; वे संयोगादिक सुख-दुख के कारण नहीं हैं बल्कि मेरा उनमें जुड़ना सुख-दुख का कारण है। इस प्रकार स्वयं में विकार होने की जिम्मेदारी अपनी समझता है, और विकार के नाश के लिये बार-बार अपने स्वभाव का अवलम्बन लेता है, स्वयं को चैतन्य-रूप अनुभव करने की चेष्टा करता है। जितना स्वयं को चैतन्य-रूप देखता है उतना शरीरादि के प्रति राग कम होता जाता है। फलतः कषाय बढ़ने के साधनों से हटता है। कषाय-वृद्धि के साधनों जैसे माँस, अण्डा, मदिरा, जुआ, चोरी, शिकार, परस्त्री, वेश्या आदि व्यसनो के नजदीक भी नहीं जाता। इसी प्रकार और भी किसी प्रकार के व्यसन में नहीं जाता—कोई और लत भी नहीं पालता—जैसे कि पान, बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, नशीले पदार्थ, चाय आदि की लत, क्योंकि व्यसन है ही ऐसी आदत जो आत्मा को पराधीन कर डालती है।

अभी तक कर्म के बहाव के साथ बह रहा था, जैसा कर्म का उदय आया वैसा ही परिणमन कर रहा था। अब समझ में आया कि यदि मैं अपने स्वभाव की ओर झुकाव करूँ तो कर्म का कार्य मिट सकता है। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि कोई आदमी मेरा हाथ पकड़ कर खींच रहा है। अब यदि मैं स्वयं भी उधर ही जाने की चेष्टा करता हूँ तो खींचने वाले का बल और मेरा बल दोनों मिलकर एक ही दिशा में कार्य करते हैं, जिसके फलस्वरूप मैं उसी दिशा में बिना किसी विरोध के, बल्कि स्वेच्छा से, खिंचा चला जाता हूँ। परन्तु यदि यह समझ में आ जाये कि मैं अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा में भी लगा सकता हूँ, यह मेरी अपनी स्वतन्त्रता है,

तो यद्यपि मेरा बल तो उतना ही है, परन्तु जब उस आदमी ने अपनी तरफ खींचा तब मैंने अपनी ताकत उसके विपरीत दिशा में लगा दी। इस चेष्टा का नतीजा यह हुआ कि इस बार जो थोड़ा-सा खिंचाव आया भी, वह उस आदमी की ताकत में से मेरी ताकत को घटाने पर जो थोड़ी-सी ताकत शेष (resultant force) बची, उसके फलस्वरूप आया। यही बात कर्मोदय के सम्बन्ध में है। यदि हम कर्म के बहाव में स्वेच्छा से बहने के बजाय अपना पुरुषार्थ विपरीत दिशा में अर्थात् आत्म-स्वभाव में रत होने में लगायें तो कर्म का फल उतना न होकर बहुत कम होगा, पहले की अपेक्षा नगण्य (negligible) होगा।

चूँकि समस्त कषाय को मिटाने में अभी स्वयं को असमर्थ पाता है, अतः तीव्र कषाय को—और उसके बाह्य आधारों, जैसे कि ऊपर कहे गए सप्त व्यसनादि, और अन्याय, अभक्ष्य आदि को—छोड़ते हुए मंद कषाय में रहकर उसको भी मिटाने की चेष्टा करता है। वहाँ वीतरागी सर्वज्ञ देव, उनके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र और उसी मार्ग पर चल रहे गुरु—जो मानो जीवन्त शास्त्र ही हैं—इनको माध्यम बनाकर निज स्वभाव की पुष्टि करता रहता है।

सम्यग्दर्शन के साथ पाये जाने वाले गुण

अब चूँकि शरीर के स्तर से चेतना के स्तर पर आ गया है, इसलिए इसे सात प्रकार का भय भी नहीं होता। मेरा अभाव हो जायेगा ऐसा भय कदापि नहीं होता, कर्मोदय-जनित (नोकषाय-जनित) भय यदि आत्मबल की कमी से होता भी है तो उसका स्वामी नहीं बनता। कर्मफल की वाँछा भी इसके नहीं रहती, क्योंकि यह निर्णय हो चुका है कि पुण्य और पाप दोनों के फल से भिन्न मैं तो मात्र चेतना हूँ। अतः न तो पुण्य-फल की अभिलाषा है और न पाप के फल से ग्लानि है, चाहे अपने पाप का फल हो या दूसरे के। कौन मेरे लिए ध्येय है, मार्गदर्शक है, इस विषय में कोई मूढ़ता तो अब रह ही नहीं गई है। ध्येय के स्वरूप को समझकर उसका अवलम्बन ले रहा है, देखा-देखी की बात अब नहीं रही। निरन्तर आत्मगुणों को बढ़ाने की चेष्टा करता है, और स्वयं को पर से हटाकर अपने गुणों में स्थिर रखने का उपाय

करता है। आत्म-उत्थान के प्रति तीव्र रुचि, अत्यन्त प्रेम रखता है। आत्मोत्थान की दिशा में बढ़ने का उपाय करता है। संसार-शरीर-भोगों से विरक्ति और आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति बढ़ती है। जीव मात्र को अपने समान चैतन्यरूप देखता है, अतः उनके प्रति अनुकम्पा का भाव पैदा होता है। जीवों की रक्षा के लिए रात्रि-भोजन का त्याग और पानी छानकर पीने आदि की पद्धति अपनाता है।

इस भूमिका में रहते हुए कम-से-कम छह महीने में एक बार आत्मानुभव अवश्य होता है, अन्यथा चौथा गुणस्थान नहीं रहता। यदि परिणामों में गिरावट आती है तो चौथे से फिर पहले गुणस्थान में पहुँच जाता है। तीसरा और दूसरा गुणस्थान जीव के चौथे से पहले की ओर गिरते समय मात्र कुछ काल के लिये होते हैं। पुनः यदि अपने परिणामों को ठीक कर लेता है तो फिर से ऊपर चढ़ने की संभावना बनती है।

पाँचवां गुणस्थान

चौथे गुणस्थान में रहते हुए साधक जब आत्मानुभव को जल्दी-जल्दी प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है तो देशसंयम-रूप परिणामों की विरोधी जो अप्रत्याख्यानावरण कषाय है वह मंद होने लगती है। जब यह पन्द्रह दिन में एक बार आत्मानुभव होने की योग्यता बना लेता है तो पाँचवें गुणस्थान में पहुँचता है। वहाँ अंतरंग में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होता है, त्याग के भाव होते हैं और बहिरंग में अणुव्रतादिक बारह व्रतों को धारता है, तथा ग्यारह प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण क्रम से शुरू होता है। वहाँ जो कषाय के अभाव में निवृत्ति है वह चारित्र है, धर्म है; और जो कषाय के आंशिक सद्भाव में व्रतादि-रूप आचरण है वह शुभ-भाव होने से पुण्य-बंध रूप है। अब उन प्रतिमाओं (stages) के स्वरूप पर विचार करते हैं :

पहली—दर्शन प्रतिमा :

अब सप्त व्यसन का प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करता है। जो भी कषाय बढ़ने के साधन हैं उनका त्याग करता है। जीव-रक्षा के हेतु ऐसे कारोबार से हटता है जिसमें जीव-हिंसा अधिक होती हो। रात्रि-भोजन का त्याग और खाने-पीनेकी चीजों को जीव-हिंसा से बचाने के लिये देख-शोधकर ग्रहण करता है।

दूसरी—व्रत प्रतिमा :

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, और चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार बारह व्रतों का पालन इस प्रतिमा से शुरू होता है। यद्यपि साधक की दृष्टि समस्त कषाय का अभाव करने की है तथापि आत्मबल उतना न होने के कारण जितना आत्मबल है उसी के अनुसार त्याग-मार्ग को अपनाता है, और जितनी कषाय शेष रह गई है उसे अपनी गलती समझता है। उसके भी अभाव के लिए अपने आत्मबल को बढ़ाने की चेष्टा करता है, और आत्मबल की वृद्धि चूंकि आत्मानुभव के द्वारा ही सम्भव है, अतः उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। जितना-जितना स्वावलम्बन बढ़ता है उतना-उतना परावलम्बन घटता जाता है। बहिरंग में परावलम्बन को घटाने की चेष्टा भी वस्तुतः स्वावलम्बन को बढ़ाने के लिये ही की जाती है। जैसे कि चलने के लिये कमजोर आदमी द्वारा पहले लाठी का सहारा लिया जाता है, फिर उसके सहारे से जैसे-जैसे वह चलता है, वैसे-वैसे सहारा छूटता जाता है। आत्मा को यद्यपि किसी सहारे की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं में परिपूर्ण है, तथापि अभी आत्मबल की कमी है। जितना पर का अवलम्बन है उतनी ही पराधीनता है, कमी है। अतः आत्मबल को बढ़ाता है तो पराधीनता घटती जाती है।

पहले अन्याय, अनाचार, अभक्ष्य तक की पराधीनता थी, अब वह घट कर न्यायरूप प्रवृत्ति, सदाचार, हिंसा-रहित भक्ष्य पदार्थों तक सीमित हो जाती है। पहले व्यापार आदि में भूठ, चोरी आदि की किंचित् प्रवृत्ति थी, अब वह प्रवृत्ति झूठ और चोरी से रहित हो जाती है। पहले परिग्रह में असीम लालसा थी, अब उसको सीमित करता है। इस प्रकार अपनी अभिलाषा, लालसा और इच्छाओं की सीमा निर्धारित करता है।

जिस प्रकार जब कोई मोटरकार पहाड़ पर चढ़ती है तो ब्रेक के द्वारा तो गाड़ी को नीचे की ओर जाने से रोका जाता है और एक्सीलेटर के द्वारा गाड़ी को आगे बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार प्रतिज्ञारूप त्याग के द्वारा तो साधक अपनी परिणति को नीचे की ओर जाने से रोकता है, और आत्मानुभव के द्वारा आगे बढ़ाता है। अथवा यह कहना चाहिए कि त्याग और आत्मानुभव दोनों का कार्य उसी प्रकार भिन्न-भिन्न है जिस प्रकार परहेज और दवाई का;

जबकि दवाई तो रोग को मिटाती है, परहेज रोग को बढ़ने नहीं देता। नीरोगावस्था तभी प्राप्त होती है जब दवाई भी ली जाये और परहेज भी किया जाए—आत्मा का उत्थान भी तभी सम्भव है जब बहिरंग में त्याग और अन्तरंग में आत्मस्वरूप का अनुभव हो। इस बात की चर्चा हम ऊपर भी कर आए हैं—‘अध्यात्म और चरणानुयोग : ग्रहण और त्याग की एकता’ शीर्षक के अन्तर्गत।

अब बारह व्रतों में से सर्वप्रथम पांच अणुव्रतों के स्वरूप पर विचार करते हैं :

(१) **अहिंसाणुव्रत** : दूसरे जीवों को अपने समान समझता है। जानता है कि जिस सुई के चुभने से मुझे ऐसी पीड़ा होती है तो दूसरे को भी वैसी ही पीड़ा होती है। अतः मन-वचन-काय से दूसरे के प्रति कोई ऐसा व्यवहार नहीं करता जैसा यदि दूसरा अपने प्रति करे तो अपने को कष्ट हो। जब सभी जीव अपने समान हैं तो दूसरे को दुखी करना वास्तव में अपने को ही दुखी करना है। अहिंसा अणुव्रत में निम्नलिखित बातें गर्भित हैं :

- (क) संकल्पपूर्वक किसी जीव को नहीं मारता।
- (ख) वचन का ऐसा प्रयोग नहीं करता जिससे दूसरे को कष्ट हो।
- (ग) मन से भी किसी का बुरा नहीं सोचता।
- (घ) आत्महत्या का भाव नहीं करता।
- (ङ) गर्भपातादि करने-कराने को हिंसा समझता है।
- (च) किसी ऐसी सभा-सोसायटी अथवा आदमियों की संगति नहीं करता जिनका लक्ष्य हिंसा है।
- (छ) किसी के प्रति अमानुषिक व्यवहार नहीं करता।
- (ज) मजदूर, रिक्शा-चालक आदि पर लोभ के वशीभूत होकर उनकी शक्ति से ज्यादा वजन नहीं लादता।
- (झ) नौकर, मजदूर आदि को समय पर भोजनादि मिले इसका ध्यान रखता है।
- (ञ) बैल, घोड़ा आदि जानवरों पर उनकी शक्ति से अधिक वजन नहीं लादता। इन जानवरों को समय पर भोजनादि देता है।

माँसाहारी पशुओं को नहीं पालता।

- (ट) रास्ते पर चलते हुए नीचे देखकर चलता है कि किसी जीव की विराधना न हो।
- (ठ) कोई भी चीज़ रखता-उठाता है तो देख-भाल कर ये क्रियाएं करता है।
- (ड) खान-पान बनाता है अथवा खाता है तो देख-शोधकर ही बनाता-खाता है। मर्यादा के भीतर की वस्तुएँ ही काम में लेता है।
- (ढ) अचार, मुरब्बा, बहुत दिनों का पापड़ आदि वस्तुएँ काम में नहीं लेता क्योंकि इन चीज़ों में जीवों की उत्पत्ति होती है।
- (ण) रेशमी, ऊनी वस्त्र, और चमड़े की बनी वस्तुओं-कपड़ों-जूतों आदि को काम में नहीं लेता क्योंकि ये सब जीव-हिंसा से उत्पन्न होते हैं। ऐसे प्रसाधन भी काम में नहीं लाता जिनके निर्माण में जीवों की हिंसा होती है।

(२) **सत्याणुव्रत** : झूठ नहीं बोलता है; यद्यपि अभी पूर्ण सत्य का पालन नहीं कर पा रहा है, तथापि ऐसा झूठ नहीं बोलता जिससे दूसरे का नुकसान हो जाये, बुरा हो जाये। सत्य अणुव्रत में निम्नलिखित बातें गर्भित हैं :

- (क) व्यापार में किसी को नकली या मिलावटी चीज़ नहीं देता।
- (ख) किसी को ठगता नहीं है।
- (ग) झूठ बोलकर ज्यादा दाम नहीं लेता।
- (घ) नाप-तोल के साधन नकली नहीं रखता।
- (ङ) अन्याय-रूप इंसाफ नहीं करता।
- (च) किसी के विरुद्ध झूठा मुकदमा दायर नहीं करता।
- (छ) झूठी गवाही नहीं देता।
- (ज) किसी की गुप्त बात को ईर्ष्या अथवा स्वार्थवश प्रकट नहीं करता।
- (झ) किसी से कोई चीज़ अथवा धन आदि लेकर बाद में मुकरता नहीं।

- (ज) किसी से विश्वासघात नहीं करता।
- (ट) किसी को झूठी अथवा खोटी सलाह नहीं देता।
- (ठ) झूठ विभिन्न कारणों से बोला जाता है—क्रोध में, लोभ से, डर से, हँसी में और निन्दा में। अतः इन कारणों से बचता है।

(३) **अचौर्याणुव्रत** : इस अणुव्रत द्वारा चोरी का त्याग करता है। इसमें ये बातें गर्भित हैं :

- (क) किसी की चीज चोरी के अभिप्राय से नहीं लेता।
- (ख) किसी को चोरी करने में सहायता नहीं करता। न किसी को चोरी का उपाय बताता है।
- (ग) चोरी का सामान खरीदता-बेचता नहीं।
- (घ) कानून में जिसकी मनाही हो, वह व्यापार नहीं करता।
- (ङ) बही-खाता, लेखा-पत्रादिक गलत नहीं बनाता। टैक्स की चोरी नहीं करता।
- (च) ज्यादा दाम की चीज में कम दाम की चीज को मिलाकर नहीं बेचता।
- (छ) घूस न तो लेता और न ही देता है।
- (ज) किसी ट्रस्ट अथवा संस्था की सम्पत्ति को न तो अपने काम में लेता है और न उसे गलत जगह लगाता है।
- (झ) किसी के यहाँ नौकरी करते हुए अपनी शक्ति को नहीं छिपाता, और मालिक को किसी प्रकार से नुकसान न हो ऐसी चेष्टा करता है।

(४) **ब्रह्मचर्याणुव्रत** : इस अणुव्रत का दूसरा नाम है स्वस्त्री-संतोष। अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियों के प्रति माँ, बहन अथवा बेटे का व्यवहार रखता है। इस अणुव्रत में निम्नलिखित बातें गर्भित हैं :

- (क) परस्त्री और वेश्या के संसर्ग का त्याग।
- (ख) भोगों की तीव्र लालसा नहीं रखता।
- (ग) भोगों के अप्राकृतिक उपाय नहीं करता।

- (घ) दुष्चरित्र स्त्रियों के साथ व्यवहार नहीं रखता।
- (ङ) तलाक नहीं करता।
- (च) स्त्रियों को रागभाव से नहीं देखता; गान, नृत्य इत्यादि नहीं देखता।
- (छ) उनके मनोहर अंगों को नहीं देखता। इसके लिये सिनेमा, टेलीविजन आदि पर रागवर्द्धक दृश्यों को नहीं देखता।
- (ज) पहले भोगे गए भोगों को याद नहीं करता।
- (झ) कामोद्दीपक, गरिष्ठ पदार्थों का सेवन नहीं करता।
- (ञ) अपने शरीर का बनाव-श्रृंगार नहीं करता।
- (ट) अपने पुत्र-पुत्री के अतिरिक्त अन्य का विवाह कराने के लिए बीच में नहीं पड़ता।

(५) **परिग्रह-परिमाणुव्रत** : तीव्र लोभ को मिटाने के लिए इस अणुव्रत के द्वारा परिग्रह की सीमा निर्धारित करता है। इसमें ये बातें गर्भित हैं :

- (क) गेहूँ, चावल आदि अन्नादिक पदार्थ आवश्यकता के अनुसार ही रखता है, ज्यादा इकट्ठे नहीं करता।
- (ख) उपहार आदि नहीं लेता। दहेज नहीं लेता।
- (ग) शादी-विवाह की दलाली का काम नहीं करता।
- (घ) यदि वह डाक्टर या वैद्य है तो किसी बीमार के इलाज को नहीं बढ़ाता।
- (ङ) इसी प्रकार यदि वह वकील है तो अपने मुक्किल को झूठी सलाह नहीं देता, उसके केस को लम्बा नहीं करता।
- (च) इस प्रकार, वह जिस व्यवसाय में भी है, उसमें या दैनिक व्यवहार में तीव्र लोभ के वशीभूत होकर कोई प्रवृत्ति नहीं करता।
- (छ) धन, मकान, वस्त्र-आभूषण, वाहन-गाड़ी, नौकर-चाकर आदि उपभोग्य पदार्थों और भोजन, पेय, फल-वनस्पति आदि भोग्य पदार्थों की सीमा निर्धारित करता है और सीमा के भीतर ही भोग-उपभोग करता है, अधिक नहीं।

इस प्रकार, इन पाँच अणुव्रतों के माध्यम से अपनी लालसा, कामना और इच्छाओं की—जिनकी अभी तक कोई सीमा नहीं थी—सीमा बनाता है।

अब बारह व्रतों के अन्तर्गत आने वाले तीन गुणव्रतों के स्वरूप पर विचार करते हैं :

- (१) **दिग्व्रत** : व्यापार-व्यवसाय के लिए मैं यहाँ-यहाँ तक आऊँ-जाऊँगा, इस प्रकार क्षेत्र की सीमा बनाता है और उस सीमा के बाहर के क्षेत्र से कोई प्रयोजन नहीं रखता।
- (२) **देशव्रत** : दिग्व्रत द्वारा निर्धारित किए गए क्षेत्र के भीतर भी सप्ताह-दो-सप्ताह के लिए, अथवा प्रतिदिन, एक अस्थायी सीमा बनाता है। इन दोनों व्रतों के माध्यम से निर्धारित क्षेत्र के बाहर जो जीव-अजीव पदार्थ हैं, उन-सम्बन्धी विकल्पों से बचा जाता है।
- (३) **अनर्थदण्ड-व्रत** : बिना प्रयोजन के न तो शरीर की कोई क्रिया करता है, न फालतू बकवास करता है, न फालतू के विचार-विकल्प करता है। दूसरों को जीव-हिंसादि के साधनादिक भी नहीं देता।

इस प्रकार सब निरर्थक बातों से बचता है। इन तीन गुणव्रतों के साथ-ही-साथ चार शिक्षाव्रतों का भी पालन करता है :

- (१) **सामायिक व्रत** : अपना समय आत्म-चिंतवन में लगाने के लिए दिन में कम-से-कम दो बार, सुबह और शाम को आत्मध्यान करता है।
- (२) **प्रोषधोपवास व्रत** : सप्ताह में एक दिन उपवास करता है और उस दिन अपना सारा समय स्वाध्याय और आत्म-चिंतवन में लगाता है, जिससे वैराग्य भाव की पुष्टि हो।
- (३) **भोगोपभोग-परिमाण व्रत** : प्रति दिन कुछ-न-कुछ भोग्य और उपभोग्य पदार्थों का त्याग करता है। अपने रोजाना के कार्यों का भी हर रोज परिमाण करता है।
- (४) **अतिथिसंविभाग व्रत** : निरंतर यह भावना करता है कि कोई धार्मिक व्यक्ति आये तो उसे भोजन कराने के पश्चात् ही स्वयं भोजन

ग्रहण करूँ। इसके अतिरिक्त, करुणाबुद्धि के वश दीन-दुखियों की जरूरतों को पूरी करने की चेष्टा करता है।

इस प्रकार अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत मिलाकर कुल बारह ($4+3+8=15$) व्रत हैं जिनका प्रारम्भ दूसरी प्रतिमा से होता है। जैसे-जैसे अन्तरंग में वैराग्य-भाव की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, उसी के अनुरूप आगे-आगे की प्रतिमाओं के अनुरूप आचरण होता जाता है। अब तीसरी प्रतिमा से शुरू करके शेष प्रतिमाओं का क्या स्वरूप है यह जानने का प्रयत्न करते हैं।

तीसरी—सामायिक प्रतिमा :

यहाँ पराधीनता और कम होती है तथा आत्मचिंतन की रुचि बढ़ती है। अतः अब प्रतिदिन तीन बार—सवेरे, दोपहर और सन्ध्या के समय—आत्मध्यान करता है और ध्यान का समय भी कम-से-कम एक मुहूर्त या पौना घंटा होता है।

चौथी—प्रोषधोपवास प्रतिमा :

अब सप्ताह में एक दिन नियम से उपवास करता है। उस दिन घर-गृहस्थी का, व्यापार-व्यवसायादि का समस्त कार्य त्याग कर निरंतर आत्म-चिंतन और स्वाध्याय करता है। यह उपवास सोलह, बारह और आठ प्रहर की अवधि के क्रम से तीन प्रकार का होता है।

पाँचवीं—सचित्तत्याग प्रतिमा :

जीवों की रक्षा के लिए गर्म अथवा प्रासुक जल लेता है। भोजन-पान की प्रत्येक वस्तु प्रासुक करके ही काम में लेता है जिससे कि उस पदार्थ में कालान्तर में भी जीवों की उत्पत्ति न हो।

छठी—रात्रिभोजन-त्याग प्रतिमा :

रात्रिभोजन का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब मन-वचन-काय तीनों से इस व्रत को निरतिचार पालता है। स्वयं तो रात को भोजन करता ही नहीं, दूसरों को भी न तो रात्रि को भोजन कराता है और न उसकी अनुमोदना करता है।

सातवीं—ब्रह्मचर्य प्रतिमा :

परस्त्री के संसर्ग का त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब स्वस्त्री से भी भोगों का त्याग करता है। स्वावलम्बन की भावना चूँकि बढ़ रही है अतः स्वस्त्री का अवलम्बन भी अब नहीं रहा।

आठवीं—आरंभत्याग प्रतिमा :

पहले न्याययुक्त व्यापार, व्यवसाय करता था, अब व्यापारादिक का भी त्याग कर देता है। अपने खाने-पीने का प्रबन्ध पहले स्वयं कर लेता था, अब अपना खाना बनाना आदि आरम्भरूप क्रियायें भी छोड़ देता है। कोई घर का सदस्य अथवा बाहर का कोई व्यक्ति खाने के लिए बुलाने आ जाता है तो जाकर भोजन ग्रहण कर लेता है।

नवीं—परिग्रह-त्याग प्रतिमा :

परिग्रह का परिमाण तो पहले कर लिया था, अब उसे घटा कर अत्यन्त कम कर देता है। धन, सम्पत्ति, जायदाद आदि से भी सम्बन्ध नहीं रखता।

दसवीं—अनुमति-त्याग प्रतिमा :

पहले संतान को व्यापारादि सांसारिक कार्यों की सलाह दे देता था, अब वह भी नहीं देता। इस प्रतिमा तक व्रतों का धारक घर में रह सकता है।

ग्यारहवीं—उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा :

इस प्रतिमा का धारक घर का त्याग कर देता है और साधु-संघ में रहता है। स्वावलम्बन बढ़ गया है, अतः घर का परावलम्बन भी नहीं रहा। वस्त्रों में केवल एक लंगोटी और एक खण्ड-वस्त्र रखता है। भिक्षा से भोजन करता है। सिर और दाढ़ी-मूँछ के बालों का या तो लोंच करता है अथवा उस्तरे आदि के द्वारा भी कतरवा लेता है। जीव-रक्षा के लिए मयूर-पंखों की पीछी और शौचादि के लिए कमण्डलु रखता है। इस प्रकार के साधक को क्षुल्लक कहा जाता है। परिणामों की विशुद्धि और भी बढ़ जाने पर साधक खण्ड-वस्त्र भी छोड़ देता है और मात्र एक लंगोटी रखता है। यह ऐलक की अवस्था है। यह साधक दिन-भर मन्दिर या किसी सूने स्थान में अथवा किसी मुनि-संघ में रहकर आत्म-चिंतन, स्वाध्याय आदि में ही अपना समय लगाता है।

पाँच समितियों का पालन करता है। यातायात के किसी साधन, किसी सवारी का उपयोग नहीं करता। इस प्रकार, सभी तरह की आकुलता-पराधीनता से रहित होता जाता है, और आत्मबल बढ़ता जाता है। यहाँ तक पाँचवाँ गुणस्थान है।

छठा-सातवाँ गुणस्थान

जब साधक अभ्यास के द्वारा आत्मानुभव का समय बढ़ता है, अन्तराल कम करता जाता है, और ऊपर किये गये निरूपण के अनुसार परावलम्बन छोड़ता जाता है, तो आत्मबल की वृद्धि के फलस्वरूप अन्तर्मुहूर्त में एक बार आत्मानुभवन की सामर्थ्य हो जाती है, और सकल संयम की विरोधी जो प्रत्याख्यानावरण कषाय है वह मंद होते-होते अन्ततः उसका अभाव हो जाता है। मात्र संज्वलन नाम की कषाय ही शेष रहती है। तब साधक समस्त परिग्रह के त्याग-पूर्वक मुनिव्रत धारण करता है। अब तक अहिंसा आदि व्रतों का आंशिक पालन अणुव्रतों के रूप में करता था, अब उन्हें पूर्णरूप से, महाव्रतों के रूप में धारण करता है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पंचेन्द्रिय-जय, छह आवश्यक आदि अष्टाईस मूलगुणों का पालन करता है। अब इन्हीं के स्वरूप का विचार करते हैं :

- (१) **अहिंसा महाव्रत** : बहिरंग में तो त्रस और स्थावर सभी जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना द्वारा त्याग होता है और अंतरंग में कषाय की अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन जातियों का अभाव होता है। चूंकि राग-द्वेष होना ही हिंसा है और उनका अभाव अहिंसा है, अतः मुनि के कषाय की उक्त तीन जातियों के अभाव-रूप भाव-अहिंसा फलित होती है।
- (२) **सत्य महाव्रत** : असत्य वचन बोलने का विकल्प ही नहीं होता है।
- (३) **अचौर्य महाव्रत** : बाह्य में बिना दिया गया कुछ भी ग्रहण नहीं करता, और अंतरंग में परपदार्थ के ग्रहण का विकल्प ही नहीं होता है।
- (४) **ब्रह्मचर्य महाव्रत** : स्त्री मात्र की इच्छा का अथवा काम के भाव

का मन-वचन-काय से त्याग और निज आत्मा में रमण।

- (५) अपरिग्रह महाव्रत : बहिरंग में समस्त वस्तुओं का त्याग, और अंतरंग में मिथ्यात्व, क्रोध-मान-माया-लोभादि रूप चौदह प्रकार के परिग्रह का त्याग।
- (६) ईर्या समिति : चार हाथ प्रमाण भूमि देखते हुए सूर्य के प्रकाश में चलना।
- (७) भाषा समिति : हित-मित-प्रिय वचन बोलना।
- (८) एषणा समिति : छियालीस दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करना।
- (९) आदान-निक्षेपण समिति : पुस्तक, कमण्डलु आदि को देख कर रखना-उठाना।
- (१०) प्रतिष्ठापन समिति : मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मल को जीव-रहित स्थान देखकर त्यागना।
- (११-१५) पंचेन्द्रियों का जीतना अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के तनिक भी आधीन न होना।
- (१६) समता-सामायिक-आत्मध्यान करना।
- (१७) वीतराग-सर्वज्ञदेव की वंदना करना।
- (१८) वीतराग-सर्वज्ञदेव की स्तुति करना।
- (१९) स्वाध्याय-आत्मचिंतन करना।
- (२०) प्रतिक्रमण—लगे हुए दोषों का निषेध करना।
- (२१) कायोत्सर्ग—शरीर के प्रति ममत्व छोड़ना, शरीर से भिन्नता का अनुभवन करना।
- (२२) अर्धरात्रि के बाद, भूमि पर एक करवट से सोना।
- (२३) दाँतुन, मंजन नहीं करना।
- (२४) स्नान नहीं करना।
- (२५) नग्न रहना।
- (२६) दिन में एक बार भोजन करना।

(२७) खड़े रह कर भोजन करना।

(२८) केशलोंच करना।

इस प्रकार मुनि के अट्ठाईस मूल गुण होते हैं, इनका निरतिचार पालन करना व्यवहार आचरण हैं। परमार्थ चारित्र तो अपने आत्म-स्वभाव में लीन रहना ही है। जब साधु आत्म-स्वभाव से हटता है तो उसका आचरण इन २८ मूल गुणों की लक्ष्मण-रेखा के बाहर नहीं जाता। मुनि-अवस्था में साधक पूर्ण रूप से स्वावलम्बी होता है, खाने-पीने का अथवा गर्मी-सर्दी आदि का भी कोई विकल्प नहीं रहता; परिग्रह से सर्वथा रहित होता है, यहाँ तक कि तिल के तुष मात्र भी परिग्रह नहीं होता। नग्न दिगम्बर, तत्काल के जन्मे हुए बालक के समान सहज निर्विकार होता है। उसकी नग्नता आत्मा की निर्विकारता को ही दर्शाती है। वह नग्नता बाहर से आई हुई नहीं होती अपितु अंतरंग से आती है जहाँ ढंकने को कुछ रहा ही नहीं। जब ध्यान-अध्ययन में शिथिलता महसूस होती है, तब यदि आगमानुकूल विधि से प्रासुक आहार मिल जाता है तो ग्रहण कर लेता है। साधु का मुख्य प्रयोजन तो ध्यान-अध्ययन का है, अतः आहार लेते हुए न तो स्वाद देखता है, और न इस बात का कोई भेद करता है कि दाता गरीब है या अमीर। आहार ग्रहण करते हुए आधा पेट ही आहार लेता है, भरपेट नहीं, और आहार-दाता पर किसी प्रकार भी बोझ नहीं बनता।

अन्य समस्त जीवों को अपने समान समझता है। अब कोई मेरा-पराया नहीं रहा, अथवा किसी जीव में भेद नहीं रहा, इसलिए किसी जीव के प्रति किंचित् भी बुरा करने का भाव ही नहीं रहा। वस्तुस्वरूप जैसा है वैसा दिखाई देता है, अतः असत्यरूप भाव ही नहीं होता। अपने निज स्वभाव में अपनापना आ गया। अतः समस्त संयोग पर-रूप दिखाई देते हैं। फलतः पर के ग्रहण करने का कोई भाव ही नहीं होता। ब्रह्म नाम आत्मा का है जिसमें निरन्तर रहता है—निज स्वभाव में रमण करता है, अतः पर के भोग की चाह ही नहीं रही। आत्मनिष्ठ हो गया, अतः परनिष्ठा नहीं रही। परनिष्ठा तो तभी तक थी जब पर से सुख मानता था। अब अनुभव में आ रहा है कि जो आनन्द आत्म-रमणता में है, वह अन्य कहीं हो ही नहीं सकता। इसलिए परनिष्ठा खत्म हो गई और पर का ग्रहण अब होता ही नहीं। इस प्रकार

साधु के पंच-महाव्रतों का पालन स्वयमेव होता है।

निज स्वभाव का स्वाद आया तो शेष सब स्वाद नीरस हो गये, बेस्वाद हो गये। निज-स्वभाव के समक्ष पर-स्पर्श की इच्छा ही नहीं रही। स्वभाव को देखा तो अन्य कुछ देखने योग्य ही नहीं रहा। निज-स्वभाव के अनहद नाद को सुना तो अन्य कुछ सुनने को नहीं रहा। निज-गंध में रम गया तो अन्य कुछ सूंघने को नहीं रहा। इस प्रकार अपने स्वभाव का अवलम्बन लिया तो पाँचों इन्द्रियों का निरोध स्वतः ही हो गया।

राग की इतनी कमी हो गई कि किसी कार्य के प्रति आसक्ति ही नहीं रही। फल यह हुआ कि अब कोई भी कार्य—चलना, उठना-बैठना, बोलना, किसी वस्तु का रखना-उठाना, अथवा मल-मूत्रादि का विसर्जन आदि—यत्नाचार के बिना नहीं होता। बिना देखे-शोधे आहार लेने का भाव नहीं होता, क्योंकि न तो शरीर से राग है और न भोजन से। आहार मिल गया तो हर्ष नहीं, और न मिला तो विषाद नहीं। राग की ऐसी ही आत्यन्तिक कमी के कारण साधु को पर में प्रतिकूलता-अनुकूलता का तनिक भी विकल्प नहीं होता—कोई भी बाह्य परिस्थिति उसके समता-रूप परिणामों में विकार नहीं लाती, जैसा कि कवि ने कहा है :

“अरि मित्र महल मसान कंचन काच निंदन थुतिकरण।

अर्घावतारन असि-प्रहारन में सदा समता धरन॥”

अन्तर्मुहूर्त के भीतर एक बार निज-स्वभाव का स्वाद ले ही लेता है—निज-स्वभाव की सम्हाल कर लेता है। स्वभाव से छूटता है तो अध्ययन-चिंतन में लग जाता है, पुनः निज-स्वभाव में लग जाता है। ध्यान बिना क्षणमात्र भी नहीं गंवाता। जिस प्रकार गाय अपने बछड़े को देख-देख कर तृप्त नहीं होती, गाय के हृदय में निरन्तर बछड़ा ही बसता है, उसी प्रकार शुद्धोपयोगी मुनि अपने स्वरूप को क्षणमात्र भी विस्मरण नहीं करते, बस अपने ज्ञान-समुद्र में डूबे रहना चाहते हैं; संसार के कोलाहल से हटकर अपने चैतन्य-देव का सेवन करते हैं; सबकी शरण छोड़कर निज चैतन्य परमदेव की शरण को प्राप्त हुए हैं, मानो संसार-रूपी ग्रीष्म ऋतु से तृषित होकर निजात्मरस ही गट-गट पी रहे हों। इस प्रकार से आत्म-मग्न मुनि के बारे में ही आचार्यों ने

कहा है कि “वे वचन बोले बिना ही, मात्र अपने शरीर की आकृति से मानो मूर्तिमान मोक्षमार्ग का निरूपण कर रहे हों।” वे मुनि स्वरूपाचरण-रस से अत्यंत तृप्त होकर भी बार-बार उसी रस को चाहते हैं। यदि पूर्वकाल के संस्कारों की वासना से शुभोपयोग में लग जाते हैं तो यह समझते हैं कि हमारे ऊपर यह संकट आया है जो शुभभाव-रूपी अग्नि में प्रवेश हुआ है। पुनः ज्ञानानन्द-रस की प्राप्ति की चेष्टा करते हैं; अब भगवान का अवलम्बन भी नहीं रहा, निज-स्वभाव का ही अवलम्बन लेते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान का अवलम्बन भी परावलम्बन है जिससे पुण्य की अग्नि में सिकना पड़ेगा जबकि आत्म-अवलम्बन से कर्मों का नाश होगा। इस प्रकार के गहन आत्मध्यानरूपी पुरुषार्थ द्वारा, पुनः पुनः आत्मध्यान में लीनता के द्वारा, जब संज्वलन कषाय मंद पड़ने लगती है तो साधु आत्मानुभवन में लगने पर पुनः विकल्पों में वापिस नहीं आता, बल्कि आत्म-स्वभाव के अनुभव की गहराइयों में उतरता जाता है। उस समय सातवें गुणस्थान से आगे की ओर उन्नति होती है—आठवाँ आदि गुणस्थान होते हैं। ध्यान की उस गहनता का वर्णन करते हुए ही कवि ने कहा है—“तिन सुथिर मुद्रा देखि मृग गनि उपल खाज खुजावते।” अर्थात् उनकी ऐसी ध्यान-मग्न, सुस्थिर मुद्रा होती है कि हरिणों को उनके पाषाण होने का भ्रम हो जाता है और वे उनके शरीर से खाज खुजलाने लगते हैं।

सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान होता है, उसके चार भेद निरूपित किये गये हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। ये भेद इस बात के सूचक हैं कि साधक ने स्वभाव-सलिल में किस घाट से डुबकी लगाई; उन घाटों के ही ये चार प्रकार हैं। किसी घाट पर जल का स्तर छिछला है, डुबकी लगाने के लिए दूर तक जाना पड़ता है। कोई घाट ऐसा है कि उससे उतरते ही डुबकी लग जाती है। यहाँ डुबकी की समयावधि तो बहुत कम है, जबकि घाट में उतरने में ज्यादा समय लग जाता है। वहाँ पहले संसार-शरीर-भोगों से उपयोग हटाने के लिए भेद-विज्ञान की भावना की जाती है, तथा साधक शरीर के स्वरूप के माध्यम से, णमोकार मन्त्र के माध्यम से, अथवा अरहंत-सिद्ध के स्वरूप के माध्यम द्वारा बाहर से उपयोग हटा कर निज स्वभाव में लगाता है। यहाँ माध्यम के अवलम्बन में समय ज्यादा लग जाता है, स्वभाव में कम समय लगता है।

सातवें से आगे के गुणस्थान

साधु जब सातवें गुणस्थान से आगे बढ़ता है, आत्म-अनुभव की गहराइयों में उतरने लगता है तो धर्मध्यान से आगे शुक्लध्यान में प्रवेश करता है; वहाँ पर, आठवें-नवें-दसवें गुणस्थानों में, धर्मध्यान की भाँति माध्यम का अवलम्बन नहीं रहता। बुद्धिपूर्वक विकल्प-विचार तो पहले ही समाप्त हो चुके हैं, केवल कुछ अबुद्धिपूर्वक विकल्प शेष रहे हैं जिनके होने से ज्ञानोपयोग में अबुद्धिपूर्वक ही ज्ञेय पदार्थों की तथा मन-वचन-काय योग-प्रवृत्तियों की संक्रान्ति—परिवर्तन—होता रहता है। ये विकल्प सूक्ष्मरागजन्य हैं, जितना राग शेष है उतना विकल्प उठता है, कुछ वैसे ही जैसे कि डुबकी लगाने वाला जल में गहराई की ओर जा रहा है परन्तु अभी बुलबुले उठते दिखाई दे रहे हैं। यहाँ कोई संसार-शरीर-भोगों का राग नहीं है। बल्कि कहना चाहिए कि रागरूपी ईंधन तो लगभग सब जल चुका, केवल मुट्ठी भर राख शेष रही है, सो भी आत्मध्यान की आँधी में उड़कर समाप्तप्रायः हो रही है। राग का अभाव हो रहा है और स्वभाव में स्थिरता बढ़ती जा रही है। चेतना में स्थिरता के कारण आत्मिक आनंद भी वृद्धिगंत हो रहा है—ऐसा अतीन्द्रिय आनंद जो इन्द्रिय-ज्ञानगम्य है ही नहीं; इन्द्र वा अहमिन्द्र आदि के जिसके होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता :

“(इह भाँति) निज में थिर भये तिन अकथ जो आनंद लह्यो।

सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा अहमिन्द्रकै नाहीं कह्यो।।”

चेतना में बढ़ती हुई स्थिरता के फलस्वरूप कर्म-प्रकृतियों के स्थिति-अनुभाग क्षीण होते जा रहे हैं। स्वभाव में गहराई बढ़ती जाती है। इस प्रकार सातवें गुणस्थान से आगे की ओर बढ़ते हुए कुछ साधक तो रागादि के पूर्व संस्कारों को, निज आत्म-परिणामों के अनुसार, दबाते हुए/उपशमन करते हुए आगे बढ़ते हैं, जबकि अन्य साधक उन संस्कारों को विनष्ट करते हुए बढ़ते हैं। पहली प्रकार के साधक दसवें गुणस्थान को पार करने पर ग्यारहवें ‘उपशान्तमोह’ गुणस्थान में पहुँचते हैं; वहाँ चूँकि दबाये गये पूर्व संस्कार उनको कुछ काल से अधिक नहीं ठहरने देते, अतः उन्हें वापिस निचले गुणस्थानों में लौटना पड़ता है। दूसरी ओर, जो साधक आत्मध्यान की आत्यंतिक गहनता द्वारा, शुक्लध्यान के पहले चरण द्वारा राग-संस्कारों को

मिटाने हुए आगे बढ़ते हैं वे मोहनीय कर्म का सर्वथा नाश करके कषाय-रहित बारहवें 'क्षीणमोह' गुणस्थान में प्रवेश करते हैं। वहाँ, शुक्लध्यान में गहराई और बढ़ती है; शुक्लध्यान के दूसरे चरण द्वारा शेष तीन घातिया कर्मों—ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय—का भी नाश हो जाता है तथा तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्त आत्मशक्ति, आत्मा के ये स्वाभाविक गुण प्राप्त हो जाते हैं। जो शक्तियाँ संसार-अवस्था में किंचित् मात्र ही व्यक्त हो पा रही थीं वे अब पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाती हैं। यही अर्हन्त अवस्था है। यहाँ ज्ञान स्वयं में, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित है, स्वरूप के आनन्द में मग्न है। अनन्त शक्ति के साथ अनन्त आनन्द का भोग हो रहा है। अघातिया कर्म अभी शेष हैं जिनके सद्भाव में समवशरण की रचना आदि होती है और बिना किसी प्रयत्न या इच्छा के सहज-स्वाभाविक रूप से वाणी खिरती है—प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का, दुख से छूटने का और परमात्मा बनने का मार्ग मिलता है। जब आयुर्कर्म की स्थिति लगभग समाप्त होने वाली होती है तो सूक्ष्म काय-योग में रहने वाले वे सयोगी-जिन शुक्लध्यान के तीसरे चरण द्वारा योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान—अयोगी-जिन अवस्था—में पहुँचते हैं। यहाँ शुक्लध्यान के चौथे चरण द्वारा वे अयोगी-जिन चार अघातिया कर्मों—वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—का नाश करके तथा तीन शरीरों—औदारिक, तैजस और कार्माण—से सम्बन्ध-विच्छेद करके सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर से रहित, जन्म-मरण से रहित, पूर्ण शुद्ध अवस्था, यही परमात्म अवस्था है जिसका चिंतवन-मनन-ध्यान करके संसारी जीव उन-जैसा होने का पुरुषार्थ करता है।

कैसा है इस शुद्धात्मा का, सिद्धात्मा का स्वरूप ? न कोई राग है न द्वेष। ज्ञानादि गुण सब पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं। अब कुछ भी करना शेष नहीं है—आत्मा कृतकृत्य हो गया है। अब कुछ भी होना शेष नहीं है, स्वभाव की पूर्णता होने के बाद कुछ होना बाकी ही नहीं रहता। जिसे अभी तक प्राप्त नहीं किया था, ऐसे उस निज-स्वभाव को आज प्राप्त कर लिया है, जिस पर को ग्रहण किया हुआ था वह सब न जाने कहाँ छूट गया। अब न कुछ ग्रहण करने को शेष है, न छोड़ने को। यह आत्मा परमात्मा,

सच्चिदानन्द, चैतन्य-प्रभु हो गया है। यही मोक्ष है, यही निर्वाण है, यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता है, यही वस्तु-स्वभाव है : 'इक देखिए, इक जानिए, रमि रहिये इक ठौर।'

धन्य हैं वे जीव जिन्होंने मनुष्य पर्याय पाकर यह कार्य सम्पन्न किया। राग-रूप आग आत्मा को जला रही है; विषय-कषायों का तो जन्म-जन्म में सेवन किया। हे चेतन ! अब निज-स्वभाव की पहचान करके उसमें लगने का मौका मिला है; देख, यह मौका कहीं खो न जाये।

बाबूलाल जैन

सन्मति विहार

२/१० अंसारी रोड

दरियागंज

नई दिल्ली-११०००२

टेली. ३२६३४५३

